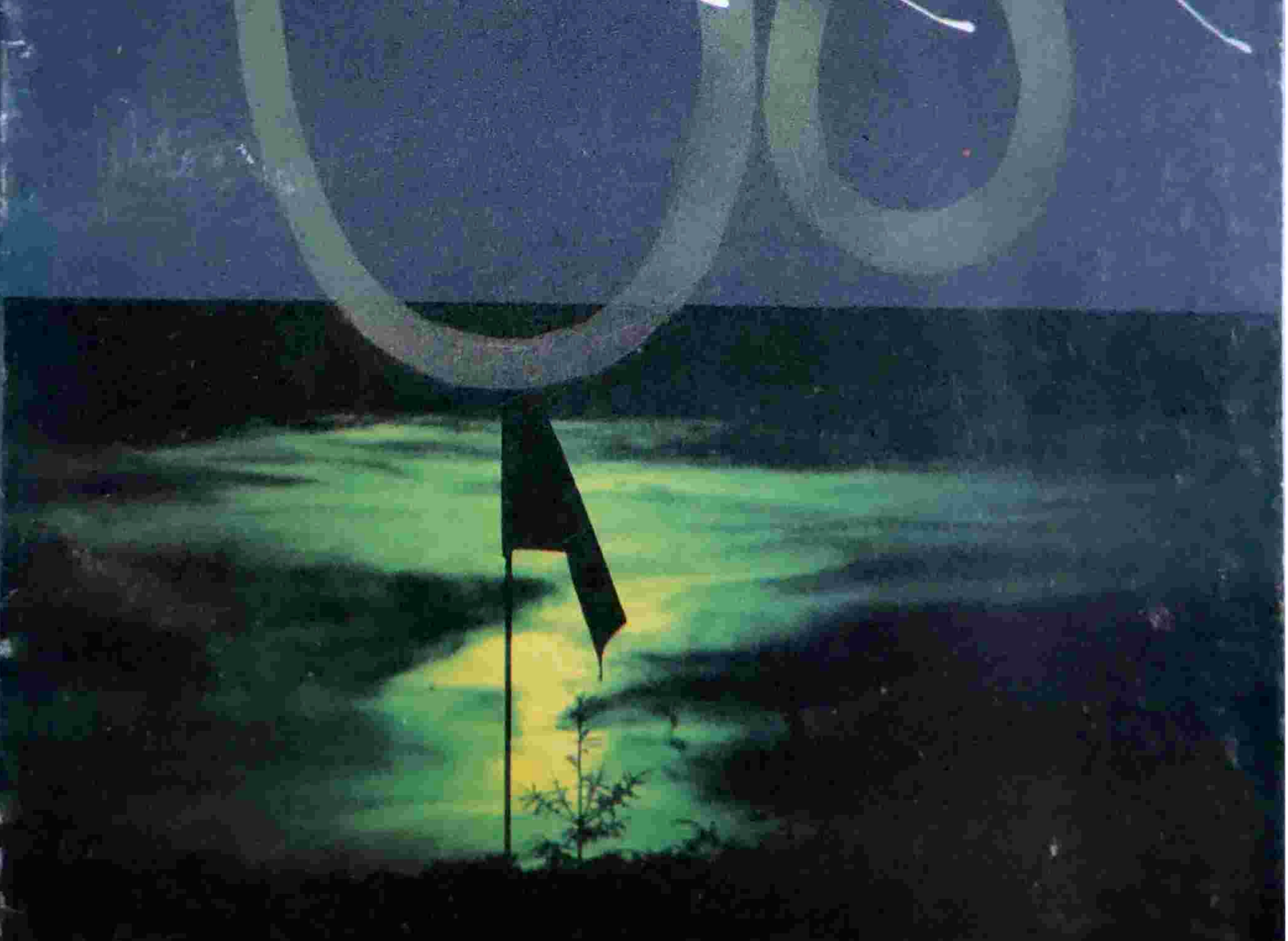
ओ३म्

ओं भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यम्भर्गो
देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

महामन्त्र



महात्मा आनन्द स्वामी

ओ३म्

महामन्त्र

(गायत्रीविषयक अपूर्व आध्यात्मिक ग्रन्थ)



प्रवचनकर्ता

महात्मा आनन्द स्वामी सरस्वती

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

गोविन्दराम हासानन्द

प्रकाशक : विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द
4408, नई सड़क, दिल्ली-110 006
दूरभाष : 23977216, 23914945
e-mail: ajayarya16@gmail.com
Website : www.vedicbooks.com

वैदिक-ज्ञान-प्रकाश का गरिमापूर्ण 94वाँ वर्ष (1925-2019)

संस्करण : 2019

मूल्य : ₹ 35.00

मुद्रक : जयमाया ऑफसैट, दिल्ली

MAHAMANTRA
by Mahatma Anand Swami Saraswati

सावित्री-गायत्री पर अनेक ग्रन्थ लिखे गए और अभी अनेक लिखे जाएँगे, तो भी गायत्री का पूरा भाव प्रकट न हो सकेगा। यह देखने में तो वामन-विष्णु की तरह छोटा-सा तीन पादों और चौबीस अक्षरों वाला मन्त्र है, परन्तु इसके तीन पादों में चारों वेदों की त्रयी विद्या—ज्ञान, कर्म, उपासना—निहित है। चारों वेदों में मानव-जीवन के कल्याण के लिए जो रहस्य बतलाए हैं, वे प्रतीक-रूप से गायत्री में विद्यमान हैं। मैंने गायत्री-मन्त्र पर कुछ लिखने का इसीलिए प्रयास किया, ताकि इस महामन्त्र के प्रति अपनी कुछ श्रद्धा और अनुभव प्रकट कर सकूँ।

इस पुस्तक के लिखने में वेद, उपनिषद्, दर्शन आदि ग्रन्थों को तो आधार बनाया ही गया है, इसके अतिरिक्त ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका, सत्यार्थ-प्रकाश, पातंजल योग-प्रदीप, गायत्री-मन्त्रार्थभास्कर, गायत्री-उपनिषद् तथा वेदविद् स्वामी वेदानन्द जी महाराज के 'सावित्री-प्रकाश' से पर्याप्त सहायता ली गई है, जिसके लिए मैं इन सबका आभारी हूँ।

इस पुस्तक में जो भी आस्वादन आप पाएँगे, वह गायत्री-मन्त्र द्वारा ही मिला है और इसमें जो त्रुटियाँ आप देखेंगे, वे मेरी निर्बलता के कारण हैं। मेरा निवेदन यह है कि मायावाद के इस युग में आप एक बार गायत्री-मन्त्र द्वारा उपासना तथा तदनुकूल आचरण बनाकर देखें तो सही कि आप लोक के वैभव तथा परलोक के आनन्द प्राप्त करते हैं या नहीं ?

प्रभु तथा प्रभु-भक्तों का प्रेमी
आनन्द स्वामी सरस्वती

भूमिका

[पूज्य गुरुदेव स्वामी आत्मानन्द जी सरस्वती महाराज द्वारा लिखित]

श्री स्वामी आनन्द सरस्वती का लिखा 'महामन्त्र' नामक पुस्तक मैंने आद्योपान्त पढ़ा। आपने अपने इस पुस्तक में परमपावनी गायत्री की महिमा का व्याख्यान किया है। यह मन्त्र वैदिक साहित्य में सर्वोत्तम माना गया है।

ईश्वर-प्राप्ति मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के स्तुति, प्रार्थना और उपासना तीन साधनों का वर्णन शास्त्रों में किया गया है। इस मन्त्र में तीनों ही साधनों का उल्लेख है। भगवान् के गुणों का वर्णन स्तुति है। भूः, भुवः, स्वः, सविता, वरेण्यं, देवस्य, भर्गः—ये शब्द भगवान् के गुणों का वर्णन कर रहे हैं। प्राणाधार, दुःख-विनाशक, आनन्ददाता, जगत् का उत्पादक और प्रकाशक, वरने योग्य, दिव्य शक्तियों का भण्डार, पापों तथा कुवासनाओं को भस्म करनेवाला, ये सब इन शब्दों के यथाक्रम अर्थ हैं। 'धियो यो नः प्रचोदयात्'—प्रभु हमारी बुद्धियों को पवित्र करें, यह प्रार्थना-वाक्य है। 'धीमहि'—हम प्रभु के गुणों को धारण करते हैं, यह अंश उपासना के भाव को प्रकट कर रहा है। उपासना का अर्थ प्रभु के समीप जाना है और भगवान् के समीप उनके गुणों को धारण करके ही पहुंच सकते हैं।

ईश्वर-प्राप्ति के इन तीनों ही साधनों का इस मन्त्र में समुचित उल्लेख है। इसीलिए शास्त्रकार स्थान-स्थान पर इसकी महिमा का वर्णन करते हैं। जिस-जिस शास्त्र में और जिन-जिन महापुरुषों के द्वारा इस मन्त्र के महत्त्व का वर्णन किया गया है, उन सबका उल्लेख स्वामी जी ने अपने इस पुस्तक में किया है।

स्वयं वेदमन्त्रों में ही इसे वेदमाता कहा गया है। वेद नाम ज्ञान का है और माता का अर्थ है, निर्माण करनेवाली। इस प्रकार सावित्री माता ज्ञान के द्वारा उपासक का निर्माण करनेवाली है। इसी मन्त्र में सावित्री को 'वरदा' भी कहा

गया है। वर नाम श्रेष्ठ का है, इस प्रकार सब श्रेष्ठ भावनाओं को प्रदान करनेवाली होने के कारण ही इसे 'वरदा' कहा गया है। वरदा इसको कहना उचित भी है, क्योंकि इसका भर्ग 'वरेण्यं' (वरने योग्य) है। श्रेष्ठ का तो वरण उपासक करता है, क्योंकि श्रेष्ठ ही श्रेष्ठ भावनाओं को प्रदान कर सकता है। 'वरेण्य' और 'वरदा' की समानता को देखकर मानना पड़ता है कि इस मन्त्र की वेदमाता सावित्री ही है।

प्रचोदयात्, प्रचोदयन्ताम्, इन दोनों शब्दों की इन दोनों मन्त्रों में समता देखकर भी विवश यह मानना पड़ता है कि वेदमन्त्र की वेदमाता सावित्री ही है। सावित्री अथवा गायत्री को पावनी कहा है। इस मन्त्र में भी सावित्री को पावमानी कहा गया है।

परन्तु 'सावित्री' उच्चारणमात्र से ही मानव को पवित्र कर देती है, ऐसी बात नहीं है। इस मन्त्र में पावमानी के साथ द्विजानाम् पद आया है। इससे स्पष्ट है कि सावित्री द्विजों को ही पवित्र करती है। (द्वाभ्यां = जन्म-संस्काराभ्यां जायते इति द्विजः) जिसकी उत्पत्ति जन्म, संस्कार दोनों साधनों से हुई हो, उसे द्विज कहते हैं। यह द्विज शब्द की व्युत्पत्ति है। जन्म से तो सबकी ही उत्पत्ति होती है, परन्तु संस्कार से किसी-किसी की ही उत्पत्ति होती है। जन्म से शरीर का निर्माण होता है और संस्कार से आत्मा का निर्माण होता है। महर्षि पतञ्जलि ने यमों और नियमों को आत्मा के संस्कार का साधन माना है। उनका सूत्र है—

यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः।

—आत्मा का संस्कार यम और नियमों से और इसी प्रकार की अन्य आध्यात्मिक विधियों से होता है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—यम हैं; और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान—नियम हैं। चित्त को एकाग्र करने का अध्यात्म-विधि से उपाय योग द्वारा ईश्वर के गुणों का आत्मा में धारण करना है।

इस प्रकार इन साधनों से आत्मा का संस्कार हो जाने पर मनुष्य द्विज-ऐसे बनता है और द्विज-आत्मा को ही पावमानी सावित्री पवित्र करती है। सावित्री-मन्त्र स्वयं भी उपासक के लिए संस्कार के साधन उपस्थित करता है। भगवान्

के गुणों का कीर्तन आत्मा में उन गुणों के ग्रहण करने की इच्छा प्रकट करता है। उस इच्छा की प्रेरणा से ही आत्मा अपनी बुद्धि के उन गुणों को ग्रहण करने में लगाने की भगवान् से प्रार्थना करता है और फिर स्वयं उपासना अर्थात् उन गुणों को अपनी आत्मा में धारण कर, आत्मा का संस्कार कर उसे 'द्विज' बनाता है। इस प्रकार माता सावित्री भी यह स्पष्ट कह रही है कि मैं उन्हीं आत्माओं को पवित्र करती हूँ, जो स्वयं अपनी आत्मा का संस्कार करना आरम्भ कर देते हैं। इस पुस्तक का नामकरण करते हुए स्वामी जी ने इसे महामन्त्र कहा है। निश्चय ही गायत्री-मन्त्र महामन्त्र है। एक साधारण अवस्था से उठाकर आत्मा को महान् आत्मा तक पहुँचानेवाले इस मन्त्र को महामन्त्र नहीं तो और क्या कहेंगे!

गायत्री की महिमा का व्याख्यान करनेवाले अनेक महापुरुषों के मत भी स्वामी जी ने इस पुस्तक में उद्धृत कर दिये हैं।

इस प्रकार इस एक ही पुस्तक के पढ़ लेने से पाठक अनेक महापुरुषों के वचनों से परिचित हो सकते हैं।

जब तक मनुष्य की किसी विधि-विधान में श्रद्धा नहीं हो जाती, तब तक वह उस मार्ग में सफल नहीं होता। इस मार्ग में श्रद्धा के विकास के लिए ही स्वामी जी ने उन महापुरुषों के मतों का उल्लेख किया है।

यदि पाठक स्वामी जी की इस भक्तिरस से पूर्ण विचार-धारा को पढ़कर अपनी आत्मा का संस्कार करना आरम्भ कर देंगे तो उन्हें अलभ्य लाभ होगा।

स्वामी जी ने इस पुस्तक को सरल भाषा में लिखने का प्रयत्न किया है। उनका यह प्रयत्न इसीलिए है कि सर्वसाधारण इससे लाभ उठा सकें। आशा है, उपासकगण प्रयत्नशील होकर इस भक्ति-भावना से पूर्ण पुस्तक से लाभ उठाएँगे।

□

विषय-सूची

पहला अध्याय
मानव-जीवन और गायत्री

दूसरा अध्याय
गायत्री-महिमा

तीसरा अध्याय
महामन्त्र-व्याख्या

चौथा अध्याय
गायत्री-उपासना

१

मानव-जीवन और गायत्री

मानव क्या है ?

मानव क्या है ? क्या केवल कुछ भौतिक पदार्थों का सम्मिश्रण ? भौतिक विज्ञान के पण्डित कहते हैं कि मनुष्य-शरीर लोहे, चूने, अभ्रक, गन्धक, सीसा, चर्बी, नमक, खाण्ड, पानी तथा थोड़ी-सी चाँदी ही का संघात है, और शेष कुछ भी नहीं। यदि मानव इन्हीं पदार्थों का नाम है, तब तो इसका मूल्य महँगाई के इस काल में भी ५-१० रुपये से अधिक नहीं होगा। परन्तु 'महाभारत' के शान्ति-पर्व के १८०।१२ में जो यह कहा गया है कि—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि । न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित् ॥

—यह रहस्य-ज्ञान तुम्हें बताता हूँ कि मनुष्य से श्रेष्ठ अन्य कुछ नहीं है।

तो क्या इतनी श्रेष्ठता अभ्रक, चूने, नमक, गन्धक, चर्बी इत्यादि से आँकी जायेगी ? नहीं, ये पदार्थ तो मानव-शरीर से कहीं बहुत अधिक हाथी में हैं, तब उसे सर्वश्रेष्ठ क्यों नहीं कहा गया ? मानव-शरीर को क्यों कहा गया ? फिर 'महाभारत' ही में नहीं, उपनिषदों में भी मानव-देह ही को सबसे अच्छा बतलाया गया है। 'ऐतरेय उपनिषद्' के ऋषि ने बतलाया है कि देवताओं ने अन्य प्राणियों के शरीर की अपेक्षा मानव-देह ही को पसन्द किया और वे देव मानव-शरीर को देखकर प्रसन्नता से उछल पड़े और यह कहते हुए कि **'यह बहुत अच्छा बना है, यह तो बड़ा प्रिय है'** मानव-शरीर में प्रवेश कर गए। और तो और, स्वयं परमात्मा ने अपनी पवित्र वाणी वेद में इस मानव-देह को बहुत दुर्लभ बतलाया है। अथर्ववेद के 'केन-सूक्त' में

मनुष्य-शरीर के एक-एक अंग की अद्भुत रचना पर कैसी सुन्दर कविता की है, और इनके बनानेवाले विलक्षण कारीगर की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। कैसा सुन्दर संगठन है इसका! जहाँ जिस पदार्थ की आवश्यकता थी, उसे वहीं रखा है। मुख के कुछ ही ऊपर नाक को, उससे ऊपर नेत्रों को, दायें-बायें की बात जानने के लिए दो कान जैसे कि दो वायरलेस यन्त्र लगा दिये हैं। उँगलियों तथा बाहों और जंघाओं की संधियाँ कितनी कारीगरी से बनाई हैं! परन्तु ऐसी कारीगरी तथा निपुणता तो मानव के अतिरिक्त दूसरे प्राणियों तथा पशुओं के निर्माण में भी दिखलाई देती है, तब मानव-देह में क्या विशेषता है कि इसी के गुण गाए जाते हैं?

परमात्मा से मिलने का साधन : तन—

इसका उत्तर वेद भगवान् ही ने दिया है—

इयं ते यज्ञा तनूः स। (यजु०)

—तेरा यह तन (देह) परमात्मा से मिलने का साधन है। मानव-शरीर में यही विशेषता है। शेष सारे प्राणियों में आत्मा भी है और परमात्मा भी, परन्तु उनमें इन दोनों का मिलाप होते हुए भी मिलाप नहीं होता, क्योंकि उन प्राणियों के पास वे साधन नहीं जो परमात्मा ने अपनी अपार कृपा से मनुष्य को दे रखे हैं।

सबसे पहली बात तो यह है कि सारे देवता मानव-शरीररूपी पुरी ही में निवास करते हैं। अथर्ववेद[1] में इसे देवपुरी कहा है। यजुर्वेद[2] में इसे ऋषिभूमि बतलाया है। सात ऋषि बिना प्रमाद के शरीर की रक्षा करते हैं, और दो ऋषि तो सोते समय भी जागते रहते हैं। यह मानव-शरीर ब्रह्मपुरी वेद[3] तथा उपनिषद्[4] ने बतलाया है। यह मानव-शरीर तो एक दैवी नाव[5] है, जिसपर हम इसलिए चढ़ बैठे हैं ताकि भवसागर से पार होकर परमधाम में जा पहुँचें। हाँ, यह मनुष्य-देह तो एक रथ[6] है, जिसपर सवार होकर यह रथी (आत्मा) बुद्धिरूपी

१. अथर्ववेद १०।२।३१　२. यजु० ३४।५५　३. अथर्ववेद १०।२।३३
४. छान्दोग्योपनिषद्　५. अथर्व० ७।६।३　६. यजु० १६।५४

सारथी द्वारा मन की लगाम से संसार-यात्रा को प्रसन्नता से पूरा करता है। और ऋग्वेद के शांखायन आरण्यक[1] में मानव-देह को दैवी वीणा कहा है। मानुषी वीणा के स्वर बहुत मधुर, बड़े रसीले तथा चित्ताकर्षक होते हैं, परन्तु जिसने इस दैवी वीणा का बजाना सीख लिया, वह उसके अन्दर ऐसे दिव्य स्वर झंकारित करता है कि मानव तो क्या, देवता भी मुग्ध हो जाते हैं।

ऐसा मानव-देह पाकर

ऐसा मानव-देह पाकर यदि मानव दुःखी हो तो फिर उसके कल्याण का क्या और भी कोई साधन हो सकता है? परन्तु यह अकाट्य सत्य है कि आज का मानव दुःखी है, और इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि जिन लोगों में आज भौतिक तथा वैज्ञानिक शक्ति है वे बहुधा केवल भौतिकवाद के माननेवाले हैं; उनके समक्ष एकमात्र शरीर ही रह गया है, और वे आत्मा को भूल-से गए हैं। दूसरा कारण यह है कि आधुनिक काल की दुनिया सर्वथा विस्मरण कर चुकी है कि यह मानव-देह बना क्यों? जो वस्तु बनाई जाती है, उसका कुछ-न-कुछ प्रयोजन अवश्य होना चाहिए। बिना किसी उद्देश्य या प्रयोजन ही के क्या मानव को इस संसार-सागर में या जगत् के बीहड़ वन में धकेल दिया गया है? और फिर नाना प्रकार के कष्टों, क्लेशों और पीड़ाओं से पीड़ित होकर हाहाकार करने के लिए ही इसे जन्म दे दिया गया है? ऐसा तो हो नहीं सकता। साधारण बुद्धि भी इसे स्वीकार नहीं कर सकती। वेद का अनुयायी तो यही कहेगा कि मानव-जीवन का कोई विशेष प्रयोजन है। यदि निस्सन्देह कोई प्रयोजन है, तो फिर वह प्रयोजन क्या है?

मानव-देह का प्रयोजन क्या?

इसका उत्तर यजुर्वेद के पहले ही अध्याय में दिया गया है—

कस्त्वा युनक्ति? स त्वा युनक्ति। कस्मै त्वा युनक्ति?
तस्मै त्वा युनक्ति। कर्मणे वां वेषाय वाम्॥ १। ६॥

१. शां० आ० ८।६

वेद के इस मन्त्र में दो प्रश्न हैं और दो ही उत्तर दिये हैं। पहला प्रश्न है—'तुमको किसने युक्त किया, अर्थात् तेरी आत्मा का इस शरीर के साथ किसने सम्बन्ध जोड़ा?' इसका उत्तर दिया है—'उस परमात्मा ने तुझे युक्त किया है।' दूसरा प्रश्न है—'किस प्रयोजन के लिए (आत्मा तथा शरीर का) मिलाप किया गया है?' इसका उत्तर है कि (१) उस परमात्मा के भजन, दर्शन, मिलाप के लिए; (२) सत्यव्रत, यज्ञ, धर्मप्रचार, शुभ गुणों, विद्याओं को धारण करने तथा (३) ज्ञान की उपलब्धि के लिए। ये तीन प्रयोजन या उद्देश्य हैं जिनको पूरा करने के लिए मानव-देह प्रभु-कृपा से प्राप्त हुआ है। इन तीनों प्रयोजनों का तीन शब्दों में वर्णन करना हो तो यह कहा जाएगा कि (१) ज्ञान, (२) कर्म, (३) उपासना के लिए; और चारों वेदों में इन्हीं तीन तथ्यों का निरूपण है, इन्हीं का व्याख्यान है। महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज के नियमों के अन्दर जो छठा नियम रखा है, वह भी इन्हीं तीन बातों को प्रकट करता है—"संसार का उपकार करना आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य है; अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।"

गायत्री तीनों का सार—

वेदों के लगभग बीस हज़ार मन्त्रों में शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति का ही व्याख्यान है। परन्तु यह एक अकाट्य सत्य है कि जहाँ वेदों के सारे ही मन्त्र कोई-न-कोई विशेषता रखते हैं, वहाँ वेदों का गायत्री-मन्त्र विशेष विशेषता से भी बढ़ गया है, क्योंकि इसके अन्दर ज्ञान, कर्म, उपासना तीनों ही तथ्य विद्यमान हैं। इसीलिए महर्षि ने गायत्री-मन्त्र को 'महामन्त्र' का नाम दिया है। महादेव योगेश्वर शिव ने गायत्री का नाम 'कामधेनु' रखा है, और समस्त यौगिक साधनों का मूलाधार भी गायत्री ही को बतलाया है। यही नहीं, शिवजी महाराज ने 'गायत्री-मंजरी' में यह भी आदेश किया है कि 'कलियुग में गायत्री मन्त्र के द्वारा ही सर्वश्रेष्ठ सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती है।' शृंगी ऋषि ने गायत्री को 'मोक्ष का मूल कारण' कहा

है। व्यास मुनि 'गायत्री तथा ब्रह्म' में कोई भिन्नता नहीं समझते। भगवान् मनु ने गायत्री को ब्रह्म का मुख (द्वार) लिखा है। प्रजापति ने गायत्री के पहले ही पाद से तीनों लोकों का वैभव प्राप्त कर लेने की घोषणा की है। श्री शंकराचार्य जी ने गायत्री को जगत् की माता कहा है। विदेह जनक महाराज ने बुडिल को बतलाया कि गायत्रीविद् बहुत-सा पाप भी यदि करता रहा हो तो वह उस पाप को जलाकर शुद्ध-पवित्र हो जाता है। भीष्म पितामह ने 'महाभारत' के अनुशासन-पर्व में कहा है—'जहाँ गायत्री-जप होता है, वहाँ बालक मरते नहीं; वहाँ अग्नि हानि नहीं पहुँचाती; वहाँ गौएँ दूध अधिक देती हैं। गायत्री सर्वभूतों का हृदय है। यह सर्वश्रेष्ठ श्रुति है। चन्द्रवंशीय सूर्यवंशीय तथा कुरुवंशीय, सब-के-सब, प्राणियों की गति परम पवित्र इसी सावित्री (गायत्री) का ही पाठ करते हैं।' इसी गायत्री-मन्त्र का जप नित्य-प्रति भगवान् कृष्ण[1] शुद्ध-पवित्र होकर मौन रहकर किया करते थे। देवी-भागवत[2] में गायत्री-जप को ही सनातन बतलाया है। और स्वयं परमात्मा ने अथर्ववेद में यह आदेश किया है कि गायत्री 'वेदमाता[3] है; वरों को देनेवाली है; आयु, स्वास्थ्य, सन्तान, धन, अन्न, पशु, वैभव, यश देनेवाली है और परमात्मा के दर्शन करानेवाली है।'

यही कारण है कि इसे गुरुमन्त्र कहकर शेष सारे मन्त्रों से विशेषता दे दी गई है। चाहते हैं सुख, मिलता है दुःख! आज की दुनिया हो या पहले युगों की दुनिया, हर काल, हर समय और हर स्थान का मानव चाहता है कि उसको इस जीवन में कोई दुःख न हो, और यदि दूसरा जन्म मिलनेवाला है, तो उसमें भी वह सुखी ही रहे। सारी दुनिया सुख और शान्ति की खोज में दुःखित और अशान्त हो रही है, परन्तु सुख-प्राप्ति के जितने अधिक यत्न होते हैं, दुनिया उतनी अधिक दुःखी होती चली जा रही है। जब पूरे यत्न, पूरी बुद्धिमता से किसी

१. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १०, अध्याय ७०, श्लोक ६
२. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १२, अध्याय ८, श्लोक ८८ से ९२
३. अथर्ववेद, काण्ड १९, सूक्त ७१, मन्त्र १

रोगी का इलाज हो रहा हो, और वह रोग कम होने की अपेक्षा बढ़ता चला जा रहा हो, तो यही कहना पड़ेगा कि इलाज ठीक नहीं हो रहा है। जब यह प्रत्यक्ष है कि आधुनिक काल की रोगी दुनिया को नाना आविष्कारों, नाना योजनाओं, नाना सम्मेलनों, नाना प्रयत्नों द्वारा भी नीरोग नहीं बनाया जा सका तो सर्वसाधारण यही कहेंगे कि ये सारे यत्न सर्वथा उलटे परिणाम उत्पन्न करनेवाले हैं। ऐसा कहना सर्वथा इतिहास को झुठलाना है कि 'जितनी भौतिक उन्नति आज दुनिया के लोगों ने की है, पहले इतनी कभी नहीं हुई थी।' भारतीय इतिहास इस सत्य का साक्षी है कि प्राचीन काल में जितने सुन्दर अद्भुत आविष्कार हो चुके हैं, उनका १/१०० भाग भी आज दुनिया को अभी प्राप्त नहीं हुआ; परन्तु प्राचीन काल में जितनी भौतिक उन्नति हुई उसका प्रयोग केवल मानव-शरीर को सुखी बनाने या नाश करने के लिए नहीं हुआ, अपितु आत्मा और ज्ञान के लिए हुआ, इसीलिए प्राचीन काल की भौतिक उन्नति ने उन लोगों को दुःखी नहीं किया। पर आज की दुनिया के आविष्कारों ने मानव को अधिक दुःखी कर दिया है।

अभ्युदय-निःश्रेयस् दोनों—

हमारे पूर्वजों को वेद द्वारा यह ज्ञान प्राप्त था कि वह कौन-सा साधन है जिसके द्वारा इस लोक के सारे वैभवों का मनुष्य आनन्द ले सकता है और साथ ही आत्मा को मोक्ष का आनन्द भी प्राप्त करा सकता है। यही नहीं, इसी मानव-जीवन में प्रकृति के सारे रूपों, सारे स्वादों और सारे आविष्कारों से लाभ उठाते हुए भी मन तथा चित्त शान्ति से भरपूर, सन्तोष और प्रसन्नता के रंग में रँगा रह सकता है। यह हुनर, यह अद्भुत ज्ञान वैदिक काल के मनुष्यों ही के पास था। आज का मानव इसे अभी तक जान नहीं पाया। यही कारण है कि आज भू-लोक के किसी भी देश या प्रदेश में वास्तविक शान्ति, सन्तोष और प्रसन्नता दिखाई नहीं देती। इसके विपरीत हाहाकार, रुदन, अशान्ति और तड़प ही देखी-सुनी जा रही है।

एक अमरीकन गंगोत्री में—

पहली बार १९५० में जब मैं गंगोत्री गया और वहाँ योगनिकेतन की कुटिया में रहकर योगाभ्यास करने लगा, तो उन्हीं दिनों वहाँ अमरीका के एक अच्छे पठित पति-पत्नी पहुँचे। एक दिन वार्तालाप में दुनिया के दुःखी होने की बात चली तो मैंने अमरीकन सज्जन से पूछा कि हमने यह सुन रखा है कि अमरीका बड़ा धनी देश है, वहाँ वैज्ञानिक उन्नति भी बहुत हो गई है; मानव के सुख, आराम तथा ऐश्वर्य के हर प्रकार के साधन विद्यमान हैं; जितना सोना, आनन्द, दूध, कपड़ा, मोटरें, शानदार भवन अमरीका में हैं और कहीं भी नहीं; तब इतने सब-के-सब सुभीते, आराम के साधन छोड़कर आप गंगोत्री जैसे स्थान पर क्यों आए जहाँ न ठहरने का स्थान है, न बिजली है, न मोटर, न रेडियो, न कोलतार की सड़कें, न फल मिलते हैं, न शाक, न होटल हैं, न सिनेमा? यहाँ तो केवल बीहड़ जंगल है देवदारु तथा भोजपत्र के वृक्षों का। कोई भी आराम का साधन यहाँ नहीं, तब आपको अमरीका-जैसे वैभवशाली देश से कौन-सी वस्तु इस तपोवन में खींच लाई?

मेरे प्रश्न के उत्तर में अमरीकन महिला तो मुस्करा पड़ी और अमरीकन सज्जन ने बड़ी गम्भीरता से एक लम्बा श्वास लेकर कहा—ठीक है कि अमरीका में सब-कुछ है, परन्तु वहाँ एक चीज नहीं। उसी को प्राप्त करने के लिए, उसी की खोज में अमरीका से निकलकर हम कठिन पैदल यात्रा करते गंगोत्री पहुँचे हैं और वह वस्तु जो वैभवशाली अमरीका में नहीं, परन्तु यहाँ मिली, उसका नाम 'शान्ति और आनन्द' है।

निस्सन्देह यह गौरव आज भी भारत ही को प्राप्त है कि वह अशान्त, दुःखी, तड़पती हुई दुनिया को शान्ति और आनन्द का मार्ग दिखला सकता है।

भारत की आत्मा कभी दास नहीं हुई—

यह एक सत्य है कि पश्चिमी दुनिया के भौतिकवाद ने बहुत-से

भारतीयों को भी पथभ्रष्ट कर दिया है। 'महाभारत' के भयंकर तथा सर्वनाश कर देनेवाले पाँच हज़ार वर्ष पहले के युद्ध ने भारत का भारी पतन किया। इतना पतन कि इसे एक हज़ार वर्ष विदेशियों का भी दास बनकर रहना पड़ा। पर भारत चाहे स्थूल रूप में दास बना रहा हो, इसकी आत्मा ने विदेशियों की दासता कभी स्वीकार नहीं की, और इसका कारण था इसकी वैदिक शिक्षा, इसके पूर्वजों का तप तथा इस काल में भी हिमालय पर्वत की कन्दराओं में बैठे तपस्वियों, योगियों, गायत्रीविद् त्यागियों का मनोबल, जिसने भारत की आत्मा को कभी नीचे नहीं गिरने दिया, क्योंकि भारतवासियों के पूर्वज धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—मानव-जीवन के चारों स्वाद ले चुके थे और वे इस तथ्य को भली-भाँति जानते थे कि स्थूल शरीर आते और जाते हैं, परन्तु न आत्मा मरता है, न क्षीण होता और न दबाया जा सकता है। इसी अटल सत्य ने प्राचीन भारतवासियों को जहाँ वैभव का स्वामी बनाया, वहाँ आत्मिक आनन्द लूटने का भी अधिकारी बनाया।

हमें सारा भौगोलिक ज्ञान प्राप्त था—

हमारा इतिहास बतलाता है कि आर्यों ने हर प्रकार का भौगोलिक ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उनका विज्ञान बहुत बढ़ चुका था। वे लोक-लोकान्तर की यात्रा करते थे। अन्य लोकवासियों से बातचीत करते थे। आयुर्वेद-शास्त्र के द्वारा वे मानव-शरीर की बहत्तर करोड़ बहत्तर लाख दस हज़ार दो सौ एक नाड़ियों का ज्ञान रखते थे। महर्षि दयानन्द ने पूना में व्याख्यान देते हुए अपने दसवें भाषण में अपने जीवन की एक घटना सुनाई कि एक बार अंग्रेज़ी का एक विद्वान् डॉक्टर मुझे मिला। उसने मुझसे कहा कि हमारे प्राचीन आर्य लोगों में डॉक्टरी औज़ारों का कुछ भी प्रचार न था और यह उन्हें विदित भी न था। तब मैंने सुश्रुत का 'नेत्र अध्याय' जिसमें कि बारीक-से-बारीक औज़ारों का वर्णन है, निकालकर उसे दिखाया। तब उसको पता चला कि आर्य लोग चिकित्सा में बड़े चतुर थे और उन्हें औज़ारों की विद्या भी भली-भाँति ज्ञात थी।

आर्य लोग गणित, ज्योतिष तथा ललितकला, सब कलाओं में पूरे निपुण थे। पारद से आकाश-मार्ग में चलनेवाला वायुयान तो बड़ा सुलभ था। सभ्यता के सारे ही पदार्थ उपस्थित थे, परन्तु कल और आज की सभ्यता के पदार्थों में भेद इतना ही था कि प्राचीन काल की सारी भौतिक उन्नति, सारे वैज्ञानिक आविष्कार तथा हर प्रकार का वैभव और भोग केवल शारीरिक सुख के लिए नहीं होता था, प्रत्युत आत्मकल्याण, यज्ञ, परोपकार तथा मानवता के उत्थान के लिए होता था, या यूँ कहिये कि स्वार्थ के लिए नहीं, परमार्थ के लिए होता था।

अब केवल शरीर रह गया है—

और आज की सारी भौतिक उन्नति, आविष्कार तथा वैभव केवल अपने स्वार्थ और शारीरिक सुख के लिए प्रयुक्त होते हैं। आज की दुनिया शरीर से आगे और दृश्यमान जगत् के आगे कुछ भी देखने की आँख नहीं रखती। प्राचीन आर्य इस दिखनेवाली दुनिया के परे, स्थूल शरीर में बैठे सूक्ष्म शरीर को और उससे अत्यन्त सूक्ष्म तथा शक्तिशाली आत्मा को अपने दिव्य नेत्रों से देखते थे, और इस आत्मा से भी परे उस परमात्मा की महान् शक्ति का भी अनुभव और साक्षात् करते थे, जिसकी प्रेरणा से अरबों सूर्य, करोड़ों नक्षत्र, करोड़ों पृथिवियाँ ठीक नियम में बँधी नाच रही हैं। स्थूल जगत् के अतिरिक्त सूक्ष्म जगत् भी उनके सामने था, और वे समाधि तथा ध्यानावस्था की लेबॉरेटरी में पहुँचकर प्रत्यक्ष देख चुके थे कि यह सारा दृश्यमान संसार केवल जीवात्मा के कल्याण के लिए है। तब वे भौतिक पदार्थों के पीछे पागल नहीं होते थे, जैसे आज अमरीका तथा रूस विशेष रूप से और अन्य देश साधारण रूप से पागल हो रहे हैं। ये सारे पदार्थ तो केवल साधन कहला सकते हैं, परन्तु अब इन्हें साध्य समझ लिया गया है।

धन कमाओ, परन्तु कैसे—

अब तो धन-दौलत ही प्रधान हो गया है। धन कोई बुरी वस्तु नहीं, परन्तु आजकल जिस ढंग से इसे कमाया जा रहा है और जिस

ढंग से इसका व्यय किया जा रहा है, उससे धन कष्ट, क्लेश, विपदा, रोग तथा मृत्यु का कारण बन गया है। धन-उपार्जन त्याज्य नहीं है। वेद ने इसकी आज्ञा दी है।

ऋग्वेद के पहले ही मण्डल के पहले ही सूक्त के तीसरे मन्त्र में परमात्मा यह आदेश देते हैं कि—

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे। यशसं वीरवत्तमम् ॥

—मानव को चाहिए कि प्रकाशस्वरूप परमात्मा के साथ (प्रभु का स्मरण रखकर) धन को प्राप्त करे, जो दिन-प्रतिदिन पुष्टि देनेवाला हो, यशवाला हो, सबसे बढ़कर वीर (पुरुषों) से युक्त हो। और आर्य लोग वेद के इस आदेश को समक्ष रखकर धन कमाते थे। तभी परमात्मा की कृपा उनके साथ रहती थी। उन्हें पुष्टि मिलती, यश-कीर्त्ति मिलती, वीर पुत्र प्राप्त होते और सब प्रकार के वैभव उनके पग चूमते थे। धन को कमाकर फिर उसे व्यय किया जाता था। वेद ने स्पष्ट आज्ञा दी है—

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर। अथर्व० ३। २४। ५॥

—सैंकड़ों हाथों से इकट्ठा करो, हज़ारों हाथों से बाँटो।

क्योंकि धन कमाकर धन बाँटनेवाले अमर हो जाते हैं। ऋग्वेद भगवान् ने स्वयं कहा है—

दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते। ऋ० १। १२५। ६॥

—दानी अमर पद पाते हैं।

और साथ ही धन कमानेवालों को सावधान किया गया कि—

मा गृधः कस्यस्विद्धनम्। यजु० ४०। १॥

—लोभ न कर, मत ललचा—यह धन किसी का नहीं रहा।

इसके लिए मनु भगवान् ने एक सिद्धान्त निर्धारित किया—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥

—सारी पवित्रताओं में से 'कमाई' की पवित्रता सबसे उत्तम मानी है। जो कमाई से पवित्र है, वह पवित्र है। मिट्टी और जल से पवित्र,

पवित्र नहीं। जब लोभ मर्यादा से बढ़ जाता है, तब कमाई या धन अपवित्र हो जाता है। नदी तब तक ही लाभ पहुँचाती है जब तक वह अपने किनारों की मर्यादा के अन्दर रहती है। जब वह किनारों से उछलकर बाहर आ जाती है तो बस्तियों तथा खेतियों को नष्ट कर देती है। इसी प्रकार धन कमाने में मर्यादित लोभ तो ठीक है, परन्तु जब लोभ की नदी उछल पड़ी—जैसे कि आजकल पूरे तूफ़ान में आ चुकी है—तो सर्वनाश कर देती है।

तब धन कमाने की मर्यादा है क्या? उत्तर में बतलाया है—

अकृत्वा परसन्तापमगत्वा खलनम्रताम्।
असंत्यज्य सतां वर्त्म यत् स्वल्पं तद् बै बहुः ॥

—किसी को सन्ताप न देकर (पराया हक न दबाकर, धोखा न देकर, रिश्वत न लेकर, डाका-चोरी न करके), दुर्जनों के आगे नम्र न होकर और सत्पुरुषों के मार्ग को न त्यागकर जो थोड़ा भी प्राप्त हो वही बहुत है।

धन के लिए चरित्र न बेचो—

परन्तु आजकल की अवस्था देखकर तो यही कहा जायेगा कि इस समय ऐसे उपदेश काम नहीं आ सकते। बहुधा लोग यही कहते सुनाई देते हैं कि 'आजकल तो झूठ, फ़रेब, रिश्वत के बिना दो पग चलना भी कठिन हो रहा है।' इसमें कुछ सत्य है भी। निःसन्देह यह ठीक है कि आजकल परिस्थितियाँ बिगड़ गई हैं, मानसिक विचार उथल-पुथल हो चुके हैं, नैतिकता का मोल रह नहीं गया, धन सब पर छा गया है, इस धन के लिए गुलामी भी खरीद ली जाती है, देश बेच डाले जाते हैं और देवियों के सतीत्व भी बाज़ार में बिकते दिखलाई देते हैं। परन्तु अच्छे कुल की कोई भी देवी किसी वेश्या के चमकीले आभूषणों से ललचाकर वेश्यावृत्ति ग्रहण नहीं करती। भूखों मर जाना उसे प्रिय लगता है, परन्तु वित्त (धन) के लिए वृत्त (चरित्र) को नहीं बेचती, क्योंकि वेद के अनुसार यह आदेश मिला हुआ है—

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद्, वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो, वृत्ततस्तु यतो हतः॥

—वृत्त (सदाचार) की यत्न से रक्षा करे; धन तो आता है और जाता है। धन से क्षीण व्यक्ति क्षीण नहीं, पर वृत्त से गिरा हुआ तो मर ही चुका है।

'महाभारत' के उद्योग-पर्व में यह व्यवस्था दी है—

वृत्तेन हि भवत्यार्यो न धनेन न विद्यया। म० उ० ८९॥

—वृत्त (आचरण) से ही आर्य होता है; न धन से, न विद्या से।

अमरीका और रूस क्या कर रहे हैं?—

परन्तु यह वृत्त और वित्त की बात तो उनके लिए है जो शरीर तथा आत्मा दोनों का साथ-साथ कल्याण करने की भावना रखते हैं। जिनके सामने केवल शरीर, केवल स्थूल जगत् है, वे तो वृत्त की कौड़ी कीमत नहीं आँकते। अमरीका तथा रूस की तरह ऐसे लोग इसी में अपनी बड़ाई समझे बैठे हैं कि जैसे-तैसे धन एकत्र करो और फिर उसे दुनिया में युद्ध की प्रलयंकारी आग जलाकर जलती मानवता का तमाशा देखने में व्यय करो। क्या कर रहे हैं आजकल के सभ्य कहलानेवाले ये देश? धन तथा युद्ध-सामग्री दे-देकर वे अपना प्रभुत्व बढ़ाने की चिन्ता में मीठी नींद भी खो बैठे हैं। जंगली जातियाँ जैसे कुक्करों की लड़ाई देखकर मन प्रसन्न करती थीं, उसी प्रकार ये सभ्य लोग देश से देश को लड़ाकर, मनुष्य से मनुष्य का रक्तपात कराकर प्रसन्न हो रहे हैं। और इसका एकमात्र कारण यह है कि प्राचीनकाल में वेद के अनुसार लोक और परलोक दोनों को साधनेवाले जो साधन कार्य में लाये जाते थे, उन्हें आधुनिक काल के लोग सर्वथा भूल चुके हैं, और अत्यन्त दुःखी हो रहे हैं।

लोक-परलोक सुधारनेवाले साधन—

तब वे कौन-से साधन थे जिनको प्रयोग में लाकर लोक-परलोक दोनों साध लिये जाते थे? वेदानुसार ज्ञान, कर्म, उपासना, यही वे साधन थे, जिनका सुन्दर वर्णन वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, दर्शनों, उपनिषदों

तथा प्राचीन ऐतिहासिक पुस्तकों में पाया जाता है। वेद ही वह पवित्र स्रोत है, जहाँ से ज्ञान, कर्म, उपासना की तीनों निर्मल नदियाँ निकली हैं, और गायत्री-मन्त्र इन तीनों का सार है।

ज्ञान क्या—ईश्वर-जीव-प्रकृति का ज्ञान।

कर्म क्या?—आत्मा के उत्थान के लिए शुभ कर्म।

उपासना क्या?—आत्मा का परमात्मा से मिलाप।

और इन तीनों का सम्मिश्रण गायत्री-मन्त्र में विद्यमान है। इसीलिए गायत्री-मन्त्र द्वारा लोक-परलोक दोनों का सुधार हो जाता है। कैसे हो जाता है सुधार? यह तो पुस्तक के अगले पृष्ठ पढ़ने पर आपको ज्ञात हो जायेगा, परन्तु यहाँ इतना निवेदन करना चाहता हूँ कि पूर्ण श्रद्धा, विश्वास तथा विधि-अनुसार अब भी जिस किसी साधक ने गायत्री-मन्त्र द्वारा उपासना की है, और गायत्री के आदेश को अपने जीवन में ढाला है, उसने केवल अपना ही नहीं, दुनिया का भी कल्याण किया है। गायत्री-मन्त्र के अमोघ अस्त्र द्वारा केवल बड़े-बड़े महानुभावों, ऋषियों, तपस्वियों, और विद्वानों ने ही लाभ नहीं उठाया, तुच्छ-से-तुच्छ व्यक्ति भी इस महामन्त्र द्वारा इस लोक के हर प्रकार के वैभव भी प्राप्त करने में सफल हुए हैं और परमात्मा के साथ मिलाप करने के भी अधिकारी बने हैं।

गायत्री द्वारा लोक-परलोक—

अथर्ववेद का यह अटल सत्य है कि—

ओम् स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्ता पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥

अथर्व० काण्ड १९, सूक्त ७१, मन्त्र १॥

—द्विजों को पवित्र करनेवाली (अच्छी प्रेरणा करनेवाली) गायत्री की मैंने स्तुति की है। उसका विस्तार-प्रचार करो, वह आयु, स्वास्थ्य, प्रजा-सन्तान, पशु, कीर्ति-यश, धन और ब्रह्मतेज मुझे देकर ब्रह्मलोक पहुँचाती है।

यह तथ्य जिस प्रकार पहले युगों में सत्य था, वैसे आज भी सत्य

है। वेद भगवान् के आदेश सारे युगों, सारे स्थानों के लिए एक ही जैसा प्रभाव रखते हैं। इसीलिए गायत्री-मन्त्र द्वारा जहाँ पूर्व के युगों में लोक-परलोक दोनों सुधरते थे, वैसे ही आज भी सुधरते हैं। परमात्मा की ओर से जितने पदार्थ मानव के सुख-कल्याण के लिए मिले हैं, वे सर्वदा अपने गुण स्थिर रखते हैं। जल सत्य-युग में प्यासे की प्यास बुझाता था तो आज का पिपासु भी जल पीकर तृप्त हो जाता है। यदि पहले युगों में सूर्य देवता हमें ज्योति, गर्मी, वर्षा देते थे तो आज भी उस देवता द्वारा वे पदार्थ प्राप्त हो रहे हैं। इसी प्रकार गायत्री-मन्त्र द्वारा हमारे प्राचीन पूर्वजों ने लाभ उठाया तो आज हम भी उठा सकते हैं। हाँ, यह आवश्यक है कि जो मनुष्य गायत्री-मन्त्र को अपने लोक-परलोक के सुधार का मुख्य साधन बनाना चाहता है, वह अनन्य भक्ति, पूर्ण श्रद्धा, सच्चे प्रेम और अटूट विश्वास के साथ गायत्री की साधना आरम्भ करे, और इस गायत्री (मन्त्र) में मानव-जीवन के कल्याण के लिए जो आदेश हैं, उन्हें अपने जीवन में चरितार्थ करने का पूरा यत्न करे।

मेरा अनुभव—

मेरा अनुभव यह है कि तन्मय होकर हृदय की अन्तिम कोर से गायत्री-मन्त्र का जप किया जाता है और साथ ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह तथा शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान की चट्टान पर मानव-जीवन के भवन का निर्माण करने का भरसक प्रयत्न किया जाता है, तो परमात्मा की सविता-शक्ति (जो इस मन्त्र का देवता है) ने जिस प्रकार सोई हुई प्रकृति को प्रेरणा करके दृश्यमान संसार का रूप दे दिया था, उसी प्रकार गायत्री का साधक इस सविता-शक्ति द्वारा परमात्मा से प्रेरणा प्राप्त करता है। उसकी बुद्धि निर्मल, सात्त्विकी, तीव्र, शुभ्र तथा पवित्र होते-होते ऋतम्भरा प्रज्ञा बन जाती है, जो साधक का ठीक पथ-प्रदर्शन करती चली जाती है। जब बुद्धि 'ऋतम्भरा' हो गई, साथ ही प्रभु-कृपा प्राप्त हो गई तो संसार की कौन-सी वस्तु गायत्री के साधक के लिए अलभ्य

रह जाती है? ठीक ही तो कहा है—

किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने !

—शोभा-निकेतन भगवान् के प्रसन्न होने पर क्या अलभ्य रहता है!

और 'योगदर्शन' का भाष्य करते हुए श्री व्यास मुनि जी ने अपना अनुभव भी बतलाया है—

भक्तिविशेषादाऽऽवर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण।

योग० १। २३, व्यास-भाष्य ॥

—भक्ति-विशेष से झुकाया हुआ ईश्वर अपने शुभ संकल्प से उसपर अनुग्रह करता है। जड़ पदार्थ प्रकृति को प्रेरणा देकर उस प्रभु ने क्या-से-क्या बना दिया और मनुष्य तो एक सत्, चेतन और अमर आत्मा-वाला है, तो क्या इस चेतन को वह प्रेरणा न देगा? वह तो सर्वव्यापक प्रेरक और नियन्ता है।

सविता-शक्ति अब भी प्रेरणा दे रही है—

उसकी प्रेरणा-शक्ति केवल आदिसृष्टि के लिए नहीं थी, वह तो अब भी प्रतिक्षण हमें प्रेरणा दे रही है। हृदयाकाश में विराजमान वह प्रेरक प्रतिक्षण मानव के कल्याण के लिए प्रेरणा करता रहता है। महर्षि दयानन्द ने 'सत्यार्थ-प्रकाश' के सातवें समुल्लास में इसका वर्णन बड़े स्पष्ट शब्दों में किया है। महाराज लिखते हैं—

"जब आत्मा मन और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता वा चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बात करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है, उसी समय जीव की इच्छा, ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाते हैं। उसी क्षण आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय, शंका और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, निःशंकता और आनन्दोत्साह उठता है। वह जीवात्मा की ओर से नहीं किन्तु परमात्मा की ओर से है।"

और नवम समुल्लास में यह आदेश है—

"जब इन्द्रियाँ अर्थों में, मन इन्द्रियों और आत्मा मन के साथ

संयुक्त होकर प्राणों को प्रेरणा करके अच्छे वा बुरे कर्मों में लगाता है तभी वह बहिर्मुख हो जाता है। उसी समय भीतर से आनन्द, उत्साह, निर्भयता और बुरे कर्मों में भय, शंका, लज्जा उत्पन्न होती है; वह अन्तर्यामी परमात्मा की शिक्षा है। जो कोई इस शिक्षा के अनुकूल वर्त्तता है, वही मुक्तिजन्य सुखों को प्राप्त होता है और जो विपरीत वर्त्तता है वह बन्धजन्य दुःख भोगता है।"

हाँ, यत्न यह होना चाहिए कि गायत्री का साधक अन्तरात्मा में आनेवाली प्रेरणा को, शिक्षा को और इस आवाज़ को अनुभव करने के लिए तैयारी करे। यह तैयारी गायत्री-जप के द्वारा ही करनी होती है, और इसकी विधि आप अगले पन्नों में पढ़ेंगे।

साधक को इस श्रद्धा और विश्वास के साथ परमात्मा से यह याचना करनी है कि सारी शक्तियों के भण्डार प्रभो! जब तूने अपनी सविता-शक्ति के नन्हे-से प्रयोग से इतना बड़ा विशाल संसार रच दिया है जिसमें एक, दो, तीन नहीं अपितु दो अरब सूर्य और उन सूर्यों के नक्षत्र, ग्रह तथा मण्डल विद्यमान हैं, तब ओ दयावान्! मेरी नन्ही-सी बुद्धि को प्रेरणा करने में तुझे क्या कोई श्रम होगा? मेरी टेर सुन, और मेरी बुद्धि को प्रकृति से हटाकर अपनी ओर ले चल! मेरी बागडोर तुम्हारे अर्पण है, जिधर तुम चाहो ले चलो—

दर पर तेरे आन खड़े हैं बने सवाली नाथ!
तुझ बिन अपना और न कोई लाज तिहारे हाथ॥

प्रभु साधक की बात सुनते हैं—

इस प्रकार साधक जब आत्मसमर्पण कर देता है—क्योंकि गायत्री-मन्त्र है ही आत्मसमर्पण का मन्त्र—तब क्या परमात्मा उसको अपना नहीं लेते? ऐसा कहने से तो भगवान् के कितने ही गुणों की निन्दा हो जाएगी। वे तो पतित-पावन, दयामय, स्नेहमय, प्रेममय प्रभु हैं। वे तो भक्तवत्सल भगवान् हैं, करुणामय स्वामी हैं, प्रीतिमय सखा हैं, प्रेममय कान्त हैं। वे तो अद्भुत मित्र और सखा हैं। तब वे अपनी शरण में आये साधक की टेर सुनेंगे क्यों नहीं? हाँ, वे सुनते तब हैं जब देख

लेते हैं कि परमात्मा के प्रति अब परम प्रेम हो चुका है, और हृदय-मन्दिर में भगवान् के दर्शन के अतिरिक्त अन्य कोई अभिलाषा अब रही नहीं। साधक कबीर के शब्दों में कहता है—

कबिरा काजल रेखहू, अब तो दई न जाय।
नैनन प्रियतम रमि रहा, दूजा कहाँ समाय॥

और भक्ति के रस में सनी, प्रेम-दीवानी मीरा मस्ती में रोगी होने पर भी यही रट जब लगाने लगती है—

औषध लाऊँ न बूटी लाऊँ, ना कोई वैद बुलाऊँ।
पूरन वैद मिले अविनासी, वाहि को नबज दिखाऊँ॥

अब तो साधक भगवान् के प्रेम में उन्मत्त-स्तब्ध-सा रहने लगता है। ऐसी अवस्था को प्राप्त साधक प्रभु-कृपा का पूर्ण पात्र बन जाता है, और तब साधक अपने सविता-शक्तिवाले भगवान्, सावित्री माता ही के आदेश पर आचरण करता, प्रभु-आज्ञा का पालन ही अपना जीवन-उद्देश्य समझने लगता है और प्रभु-कृपापात्र भक्त न तो दुनिया से रूठता है और न दुनिया के वैभव के पीछे पागल हो जाता है, अपितु दुनिया के सारे पदार्थों को प्रभु-आज्ञा से केवल आत्म-उत्थान के लिए प्रयोग में लाता है। धन भी कमाता है—केवल इसे मानव-जीवन-यात्रा का एक साधन समझकर। विवाह भी करता है—केवल यात्रा में एक अच्छा साथी लेने के लिए। सन्तान भी उत्पन्न करता है—केवल पितृ-ऋण पूरा करने के लिए। हर प्रकार के यज्ञ भी करता है—केवल देव-ऋण पूरा करने के लिए। अपनी कमाई, अपनी शक्ति, अपनी विद्या, अपनी भक्ति का प्रयोग वैदिक विचार के प्रचार में करता है—केवल ऋषि-ऋण पूरा करने के लिए; अपने लिए कुछ नहीं।

पागल बनकर देख—

हाँ, अपने लिए अपना प्रियतम चुन लेता है और उसी को अपनी धारणा के विषय का ध्यान बनाकर, उसी के मिलाप का दिन-रात यत्न करता है और वेद भगवान् के पवित्र शब्दों में गाता है—

ओं उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय ।
अग्न उन्मादय त्वमसौ मामनुशोचतु ॥

अथर्व० ६ । १३० । ४ ॥

-(मरुत:) प्राणवायुओ ! (उत्-मादयत) मुझे मस्ताना बना दो । (अन्तरिक्ष उत् मादय) आकाश ! मुझे बेसुध कर दे । (अग्ने उत् मादय) अग्ने ! तू भी मुझे प्रेमोन्मत्त कर दे। (असौ) वह (मेरा प्यारा प्रियतम प्रभु) भी (माम् अनुशोचतु) मेरे लिए विकल हो जाए ! हाँ, साधक और साध्य दोनों ही चेतन हैं, सत्य हैं, परन्तु साध्य में आनन्द विशेष है जो साधक के पास नहीं । इसी के लिए तो साधक भी तड़प रहा है और चाहता है कि उसका प्यारा भी विकल हो । काहे के लिए ? अपने आनन्द का प्रसाद साधक को देने के लिए।

साधक की यह मस्ती गायत्री-मन्त्र के जप से निरन्तर बढ़ती चली जाती है, और उसे ऐसा प्रतीत होने लगता है कि गायत्री-मन्त्र के अमर शब्दों में कोई ऐसी वस्तु छिपी हुई है जो साधक को नशा चढ़ाती चली जा रही है, और यह है भी ठीक, क्योंकि परमात्मा का पवित्र नाम एक नशा ही तो है । यजुर्वेद के १९वें अध्याय के सातवें मन्त्र में कहा भी गया है—

सुरा त्वमसि शुष्मिणी ।

—तू बलकारी सुरा (शराब) है ।

और यह ऐसी सुरा है जिसका नशा कभी उतरता ही नहीं, प्रतिदिन बढ़ता ही चला जाता है । फिर इस नशे में साधक पता नहीं क्या-कुछ कह जाता है । श्रद्धेय विदेह जी के शब्दों में साधक कहता है—

मेरा तुम ही दीन हो, ईमान हो, आराम हो ।
तुम ही आदि-अन्त हो, जीवन की सुबह-शाम हो ॥
आओ कि दूरी तुम्हारी अब सही जाती नहीं ।
वेदना विरहा बढ़ी इतनी कही जाती नहीं ॥

इसी विरहाग्नि को शान्त करने के लिए गायत्री-मन्त्र का जप किस प्रकार अमृत-जल सिद्ध होता है और दुनिया के सारे वैभव देकर

प्रभु प्यारे से यह महामन्त्र किस प्रकार मिलाप करा देता है, कुछ रहस्य और कुछ तत्त्व इस पुस्तक में लिखने का मुझे सुअवसर प्रभु-कृपा से प्राप्त हुआ है ।

मानव-जीवन को हर प्रकार से सफल बनाने में सावित्री-गायत्री एक अमोघ साधन सिद्ध हुआ है, और इसमें मनुष्य-मात्र का अधिकार है । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री, पुरुष, सभी इसके द्वारा लाभ उठा सकते हैं । इसमें किसी सम्प्रदाय की कैद नहीं, किसी देश-विशेष या जाति-विशेष का प्रतिबन्ध नहीं; जो भी प्यासा शुद्ध जल पियेगा उसकी पिपासा बुझेगी ही । इसी प्रकार गायत्री का अमृत-जल जो व्यक्ति विधिपूर्वक पान करेगा, वह निस्सन्देह प्रभु की कृपा का पात्र बन जाएगा । यह तथ्य सर्वथा सत्य है कि 'गायत्र्यास्तु' परं तत्त्वं न भूतं न भविष्यति ।'—गायत्री से बढ़कर कोई जप न हुआ है न होगा । यह मानव को संज्ञा-मानव बना देगा ।

२

गायत्री-महिमा

"गायत्री-महामन्त्र के अर्थ पर विचार करना चाहिए । इस मन्त्र द्वारा सारे विश्व को उत्पन्न करनेवाले परमात्मा का जो उत्तम तेज है, उसका ध्यान करने से बुद्धि की मलिनता दूर हो जाती है और धर्माचरण में श्रद्धा और योग्यता उत्पन्न होती है । दूसरे किसी मत में प्रार्थना के मन्त्रों की ऐसी गहराई और सचाई नहीं है ।"[2]

(महर्षि दयानन्द)

---

१. बृ० यो० याज्ञ०—१९ । १०

२. महर्षि स्वामी दयानन्द जी महाराज सरस्वती ने जुलाई १८७५ में जो भाषण पूना (महाराष्ट्र) में दिये थे, उनमें चौदहवाँ व्याख्यान 'नित्य-कर्म और मुक्ति' विषय पर था । उसमें महर्षि ने गायत्री को महामन्त्र कहा था । ऊपर के वचन महर्षि के ही हैं ।

—सम्पादक

महामन्त्र गायत्री की महिमा सभी आर्षग्रन्थों में गाई गई है। यही नहीं, ऐतिहासिक ग्रन्थों तथा पुराणों इत्यादि में भी गायत्री-उपासना का विधान पाया जाता है और प्राचीन तथा आधुनिक काल के ऋषियों, मुनियों और महानुभावों ने भी सावित्री-गायत्री माता से जो लाभ उठाए हैं, उनका वर्णन किया है।

'महाभारत' में गायत्री—

सबसे पूर्व अखण्ड ब्रह्मचारी श्री भीष्म पितामह का आदेश सुनिये जो मृत्यु-समय शर-शैया पर पड़े हुए उन्होंने श्री युधिष्ठिर जी को दिया। यह प्रसंग 'महाभारत' के अनुशासन-पर्व के अध्याय १५० में है। श्री युधिष्ठिर जी भीष्म जी से प्रश्न करते हैं[१]—

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
किं जप्यं जपतो नित्यं भवेद्धर्मफलं महत्॥
प्रस्थाने वा प्रवेशे वा प्रवृत्ते वाऽपि कर्मणि।
दैवे वा श्राद्धकाले वा किं जप्यं कर्मसाधनम्॥
शान्तिकं पौष्टिकं रक्षा शत्रुघ्नं भयनाशनम्।
जप्यं यद् ब्रह्मसमितं तद् भवान् वक्तुमर्हति॥

श्लोक सं० १ से ३॥

—हे सर्वशास्त्र-विशारद महाप्राज्ञ पितामह! कौन-से जप्य मन्त्र को सदा जपने से महत् (बड़ा भारी) धर्मफल होता है? प्रस्थान-काल (चलते समय) में, प्रवेश के समय, अथवा कार्य प्रारम्भ होने पर, दैव या श्रद्धा-सत्कार में कौन-सा मन्त्र कार्य सिद्ध करता है, जिसे जपने से शान्ति, पुष्टि, रक्षा, शत्रुहानि तथा भयविनाश होता है, और जो वेद-तुल्य हो, आप उसे वर्णन कर सकते हैं। (श्लो० १ से ३)

भीष्म जी ने युधिष्ठिर जी के इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर देते हुए जो रहस्य प्रकट किया, वह यह है—

यानपात्रे च याने च प्रवासे राजवेश्मनि।
परां सिद्धिमवाप्नोति सावित्रीं ह्युत्तमां पठन्॥
न च राजभयं तेषां न पिशाचान्न राक्षसात्॥
नाग्न्यम्बुपवनव्यालाद् भयं तस्योपजायते॥
चतुर्णामपि वर्णानामाश्रमस्य विशेषतः।
करोति सततं शान्तिं सावित्रीमुत्तमां पठन्॥
नाग्निर्दहति काष्ठानि सावित्री यत्र पठ्यते।
न तत्र बालो म्रियते न च तिष्ठन्ति पन्नगाः॥

---

१. महाभारत, भागवत इत्यादि के प्रमाण केवल इसलिए दिये जा रहे हैं ताकि जो लोग इन ग्रन्थों का मान करते हैं वे देख सकें कि इन ग्रन्थों में गायत्री की महिमा कैसी प्रकट की गई है।

'महाभारत' के अनुशासन-पर्व में युधिष्ठिर जी ने ऐसे जप्य मन्त्र का प्रश्न भीष्म पितामह से पूछा है जो शान्ति, पुष्टि, रक्षा देनेवाला हो और देव-सम्मत हो और भीष्म जी ने उस मन्त्र को सावित्री-मन्त्र बतलाया है। इस अध्याय में ८३ श्लोक हैं। इतने श्लोकों और इतने विस्तार की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती थी। उत्तर तो केवल थोड़े-से श्लोकों में आ सकता था, और प्रश्न-उत्तर के समय थोड़े ही श्लोक होंगे परन्तु जैसा कि 'महाभारत' ग्रन्थ के अन्य अध्यायों के साथ हुआ, सहस्रों श्लोक पीछे से लिख लिये गए, इसी प्रकार इस अध्याय में भी हुआ और सावित्री-मन्त्र और-का-और लिख डाला गया, परन्तु फिर भी भीष्म के बतलाए वास्तविक सावित्री-मन्त्र को छिपाया न जा सका। बढ़ाए हुए श्लोकों में अपने पूर्वजों का गुणगान किया गया है जो वेद-सम्मत नहीं। युधिष्ठिर जी ने वेद-सम्मत मन्त्र पूछा था, और भीष्म जी ने वेद-सम्मत सावित्री-मन्त्र का जप बतलाते हुए इसी सावित्री-मन्त्र के सम्बन्ध में इस मन्त्र को 'ब्रह्म-सनातनं, हृदयं सर्वभूतानां श्रुतिरेषा सनातनी' कहा है कि—यह सनातन ब्रह्मस्वरूप, सर्वभूतों का हृदय तथा सनातन श्रुति है। श्रुति केवल वेद में आए मन्त्रों ही को कहा जाता है, किसी मानव-कथित को चाहे वह व्यास-कथित हो या पाराशर-कथित, श्रुति नहीं कहा जाता। अतएव इस अध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों को परे करने पर शेष जो तथ्य रहता है वह वेद भगवान् का सावित्री-मन्त्र ही है।

न तेषां विद्यते दुःखं गच्छन्ति परां गतिम् ।
ये शृण्वन्ति महद् ब्रह्म सावित्रीगुणकीर्तनम् ॥
गवां मध्ये तु पठतो गावोऽस्य बहुवत्सलाः ।
प्रस्थाने वा प्रवासे वा सर्वावस्थां गतः पठेत् ॥

श्लोक सं० ६८ से ७३ ॥

—जो लोग सावित्री (गायत्री) का पाठ करते हैं उनको यान, पात्र, प्रवास और राजगृह में अत्यन्त श्रेष्ठ सिद्धि प्राप्त होती है। उनको राजा, दुष्ट, राक्षस, अग्नि, जल वायु और सर्प—इनसे भय नहीं होता। जो लोग उत्तम सावित्री-पाठ करते हैं वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चारों वर्णों, विशेष करके चारों आश्रमों की शान्ति किया करते हैं। जिस स्थान में सावित्री-पाठ किया जाता है उस स्थान में अग्नि काष्ठों को हानि नहीं पहुँचाती, वहाँ बालक नहीं मरते, न वहाँ पन्नग वास करते हैं। जो लोग सावित्री-गुण-कीर्तन-रूप महत् वेद ग्रहण करते हैं, उन्हें दुःख नहीं होता, और वे परम गति पाते हैं। गौओं के बीच सावित्री-पाठ करने से गौएँ बहुवत्सा होती हैं। प्रस्थानकाल अथवा प्रवास के समय जिस किसी अवस्था में स्थित हो, सर्वदा ही सावित्री का पाठ करे।

और अगले चार श्लोकों में भीष्म पितामह यह बतलाते हैं कि सावित्री-गायत्री से बढ़कर और कोई जप्य मन्त्र नहीं है। युधिष्ठिर जी को सम्बोधन करके भीष्म जी कहते हैं—

जपतां जुह्वतां नित्यं च प्रयतात्मनाम् ।
ऋषीणां परमं जप्यं गुह्यमेतन्नराधिप ॥
याथातथ्येन सिद्धस्य इतिहासं पुरातनम् ।
पराशरमतं दिव्यं शक्राय कथितं पुरा ॥
तदेतत्ते समाख्यातं तथ्यं ब्रह्मसनातनम् ।
हृदयं सर्वभूतानां श्रुतिरेषा सनातनी ॥
सोमादित्यान्वयाः सर्वे राघवाः कुरवस्तथा ।
पठन्ति शुचयो नित्यं सावित्रीं प्राणिनां गतिम् ॥

श्लोक सं० ७४ से ७७ ॥

—हे नरनाथ! जप-परायण, होमनिष्ठ और सदा सावधान-चित्त ऋषियों का यह परम जप्य तथा गुप्त मन्त्र है। पहले समय में यह पराशर-सम्मत पुरातन इतिहास यथार्थ रीति से देवराज के निकट वर्णित हुआ था, वही इतिहास पूरी रीति से तुम्हारे समीप कहा गया। यह (गायत्री) सनातन ब्रह्मस्वरूप, सर्वभूतों का हृदय तथा श्रुति है। चन्द्रवंशीय, सूर्यवंशीय, रघुवंशीय तथा कुरुवंशीय राजा लोग सदा पवित्र होकर यह परम पवित्र प्राणियों की गति सावित्री-गायत्री-पाठ किया करते हैं।

गायत्री-महिमा प्रकट करने में श्री भीष्म पितामह ने कोई बात छिपा नहीं रखी। जब यह कह दिया कि सारे ही सूर्यवंशीय, रघुवंशीय तथा चन्द्रवंशीय सब-के-सब गायत्री-जप करते थे और करते हैं तो इन गायत्री-जप करनेवालों में भगवान् राम, सीता माता, भगवान् कृष्ण और रुक्मिणी माता तथा अन्य सारे ही ऋषि-मुनि महानुभाव भी आ गए। सारे वर्ण, सारे आश्रम भी आ गए। और फिर यह रहस्य भी छिपा नहीं कि लौकिक लाभ पहुँचाने के साथ यह सावित्री-जप मानव की परम गति भी है। इसी के द्वारा ब्रह्म-दर्शन भी होते हैं। इन श्लोकों में गायत्री के पाठ या जप से सिद्धि कही गई है। वह साथ-साथ योगानुष्ठान करने से ही प्राप्त हो सकती है, केवल पाठ और जप-मात्र से नहीं, जैसे महर्षि पतंजलि ने कहा है—

योगांगानुष्ठानाद् अशुद्धिक्षये ज्ञान-दीप्तिराविवेकख्यातेः ।

योगद० २ । २८ ॥

'देवी-भागवत' में गायत्री-जप—

'देवी-भागवत' द्वादश स्कन्ध के आठवें अध्याय के ये श्लोक स्पष्टतया गायत्री-जप की विशेषता का विधान करते हैं—

न विष्णूपासना नित्या वेदेनोक्ता तु कुत्रचित् ।
न विष्णुदीक्षा नित्यास्ति शिवस्यापि तथैव च ॥
गायत्र्युपासना नित्या सर्ववेदैः समीरिता ।
यया विना त्वधःपातो ब्राह्मणस्यास्ति सर्वथा ॥

तावता कृतकृत्यत्वं नान्यापेक्षा द्विजस्य हि ।
गायत्रीमात्रनिष्णातो द्विजो मोक्षमवाप्नुयात् ॥
कुर्य्याद्वन्यन्न वा कुर्य्यादिति प्राह मनुः स्वयम् ।
विहाय तां तु गायत्रीं विष्णूपास्ति परायणः ॥
शिवोपास्ति पुरो विप्रो नरकं याति सर्वथा ।[1]

श्लोक सं० ८८ से ९२ ॥

—वेद में कहीं भी विष्णु-उपासना का विधान नहीं है, न ही विष्णु-दीक्षा नित्य है; वैसे ही शिव की भी। गायत्री-उपासना तो सनातन है; सब वेदों में इसी का प्रतिपादन किया है जिसके बिना ब्राह्मण का सर्वथा अधःपात हो जाता है। द्विज-मात्र भी उतने से (गायत्री-उपासना से) ही कृतकृत्य हो जाता है; अन्य उपासना और दीक्षा की आवश्यकता नहीं। गायत्री-उपासना-निष्णात द्विज मोक्ष को प्राप्त होता है; अन्य उपासना करे या न करे, ऐसा मनु भगवान् ने कहा है। उस गायत्री को छोड़कर जो द्विज विष्णु की और महादेव शिव की उपासना में लगा रहता है, वह सर्वथा नरक में जाता है।

'देवी-भागवत' के लेखक ने तो बड़े भयंकर शब्दों में गायत्री उपासना को छोड़ अन्य उपासनाएँ करनेवालों को सावधान किया है। मेरा प्रयोजन इस चेतावनी से नहीं, केवल गायत्री-जाप से है कि इसका बड़ा प्रबल विधान 'देवी-भागवत' में किया गया है।

'देवी-भागवत' स्कन्ध ११, अध्याय १६ का १५वाँ श्लोक भी पढ़िये—

सर्ववेदसारभूता गायत्र्यास्तु समर्चना ।
ब्रह्मादयोऽपि सन्ध्यायां तां ध्यायन्ति जपन्ति च ॥

१. इन श्लोकों के लेखक ने विष्णु और शिव की उपासना का निषेध किया है। सम्भव है कि पौराणिक शिव और विष्णु की कल्पना के अनुसार यह निषेध किया गया हो। शिव नाम कल्याणकारक ब्रह्म का और विष्णु नाम सर्वव्यापक ब्रह्म का है और गायत्री में उसी का ध्यान करने का उपदेश है; ऐसे शिव अथवा विष्णु की उपासना का निषेध नहीं हो सकता।

—गायत्री का आराधन सब वेदों का सार-रूप है; सन्ध्याकाल में ब्रह्मादिक भी उसका ध्यानसहित जप करते है।

ऋषि विश्वामित्र ने भगवान् राम को सावित्री-उपदेश किया—

यजुर्वेद के अनुसार गायत्री-मन्त्र का सविता देवता है और विश्वामित्र ऋषि है। विश्वामित्र ने ही राम-लक्ष्मण को दो विद्याओं का उपदेश दिया था, जिन्हें 'रामायण' में बलातिबला कहा गया है। वस्तुतः सविता-सावित्री विद्या ही बलातिबला है। विश्वामित्र ऋषि ही इनके उपदेशक हो सकते थे। निर्णयसागरीय सावित्री-उपनिषद् के अन्त में इन विद्याओं की चर्चा होने से यही सिद्ध होता है कि इनका सम्बन्ध सावित्री ही से है। अतएव विश्वामित्र ऋषि ने राम और लक्ष्मण को उनके ब्रह्मचर्य-काल में इसी सावित्री-गायत्री का रहस्य समझाया था।[1]

भगवान् कृष्ण गायत्री-जप करते थे—

'श्रीमद्भागवत' को महापुराण कहा जाता है। इसके दशम स्कन्ध के ७०वें अध्याय में भगवान् की नित्यचर्या इत्यादि का वर्णन है। श्री शुकदेव जी परीक्षित को सुना रहे हैं : जब रात बीत जाती, सवेरा होने लगता तो फिर क्या होता ? अब श्री शुकदेव जी कहते हैं—

भगवान् श्रीकृष्ण प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्त में उठ जाते और हाथ-मुंह धोकर अपने आत्मस्वरूप का ध्यान करने लगते। उस समय उनका रोम-रोम आनन्द से खिल उठता था। इसके बाद वे विधि-पूर्वक निर्मल और पवित्र जल में स्नान करते। फिर शुद्ध धोती पहनकर, दुपट्टा ओढ़कर बड़ी श्रद्धा एवं कुशलतापूर्वक आवश्यक नित्यकर्म, सन्ध्या-वन्दन आदि करते। इसके बाद हवन करते और मौन रहकर गायत्री का जप करते। ये सब कर्म वे सूर्योदय से पहले-पहले कर लेते।

१. गायत्री-उपनिषद् की भूमिका से।

गायत्री-जप का वर्णन इस अध्याय के छठे श्लोक में है, जो यह है—

अथाप्लुतोऽम्भस्यमले यथाविधि क्रियाकलापं परिधाय वाससी ।
चकार सन्ध्योपगमादिसत्तमो हुतानलो ब्रह्म जजाप वाग्यतः ॥
१० । १० । ६ ॥

'कल्याण'—गोरखपुर के 'भागवतांक' में इस श्लोक का यह अर्थ लिखा है—'भगवान् ने विधिपूर्वक निर्मल और पवित्र जल में डुबकी लगाकर स्नान किया, फिर स्वच्छ धोती पहनकर, दुपट्टा ओढ़कर, बड़ी श्रद्धा और कुशलता के साथ सन्ध्योपासनादि नित्यकर्म किया। तदनंतर वे हवन करके गायत्री का जाप करने लगे।' और भगवान् कृष्ण जी की इस 'आदर्श प्रातश्चर्या' के वर्णन के अन्त में यह लिखा है—हम लोगों को भी जगद्गुरु भगवान् के इस आदर्श के अनुसार ही व्यवहार करना चाहिए। और मेरा निवेदन है कि निस्सन्देह भगवान् कृष्ण की तरह ही नित्य गायत्री-जप करना सब कृष्ण-भक्तों का कर्त्तव्य है।

'बृहदारण्यकोपनिषद्' में गायत्री—

इस उपनिषद् के आठ अध्याय हैं और इनमें से पाँचवाँ अध्याय पूर्ण ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करने का साधन बतलाने के लिए है। इसमें १५ ब्राह्मण हैं। इतने ब्राह्मण और किसी अध्याय में नहीं हैं, और इसी अध्याय में गायत्री-उपासना को सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है। यह 'बृहदारण्यक उपनिषद्' का पाँचवाँ अध्याय है। इसके पहले ब्राह्मण में 'ओं खं ब्रह्म' मन्त्र की व्याख्या की गई है, और बतलाया है कि ओम् द्वारा ब्रह्म की उपासना कैसे होती है। इसका वर्णन आप इस पुस्तक में ओ३म् की व्याख्या के प्रकरण में पढ़ेंगे। दूसरे ब्राह्मण में उपासना की आधार-शिला इन्द्रियों के दमन करने, दया करने और दान देने का वर्णन है। तीसरे ब्राह्मण में यह प्रकट किया है कि उपासना तभी सफल होती है जब 'हृदय' से की जाय। चौथे ब्राह्मण में सत्य ब्रह्म की उपासना का रहस्य खोला गया है। इसी प्रकार अगले ब्राह्मणों में भी उपासनाओं के भिन्न-भिन्न प्रकार बतलाते हुए चतुर्दश ब्राह्मण में अपने भक्त या साधक के प्राणों की रक्षा करनेवाली गायत्री का बड़े विस्तार से ऋषि ने वर्णन किया है। वास्तव में यह सारा ५वाँ अध्याय गायत्री-उपासना ही के अर्पण किया गया है। पहले के १३ ब्राह्मण और अन्त का १५वाँ ब्राह्मण गायत्री द्वारा सारे लोकों के वैभव प्राप्त करने और अन्त में प्रभु-दर्शन पाने का विधान करता है और १४वाँ ब्राह्मण तो गायत्री ही की महिमा-गायन करता है।

श्री शंकराचार्य जी और गायत्री—

'बृहदारण्यकोपनिषद्' के इस चतुर्दश ब्राह्मण का भाष्य करते हुए श्री शंकराचार्य जी लिखते हैं—

सर्वछन्दसां हि गायत्री छन्दः प्रधानभूतम्, तत्प्रयोक्तृगायत्राणाद् गायत्रीति वक्ष्यति। न चान्येषां छन्दसां प्रयोक्तृप्राणत्राणसामर्थ्यम्; प्राणात्मभूता च सा सर्वछन्दसां चात्मा प्राणप्राणश्च क्षतत्राणात् क्षत्रमित्युक्तम्; प्राणश्च गायत्री; तस्मात् तदुपासनमेव विधित्स्यते।

—सम्पूर्ण छन्दों में गायत्री-छन्द ही प्रधानभूत है, उसका प्रयोग करनेवाले, 'गय' (गानेवाले) का त्राण करने के कारण यह गायत्री है। अन्य छन्दों में अपने प्रयोक्ता के प्राणों की रक्षा करने का सामर्थ्य नहीं है। किन्तु यह प्राण की स्वरूपभूता है और प्राण सम्पूर्ण छन्दों की आत्मा है, तथा क्षत के त्राण करने के कारण प्राण-क्षत्र है—ऐसा ऊपर कहा जा चुका है। प्राण ही गायत्री है, इसलिए उसकी उपासना का ही विधान करना अभीष्ट है।

और फिर श्री शंकराचार्य जी चौथे मन्त्र के भाष्य में लिखते हैं—यह गायत्री अध्यात्म-शरीरस्थ प्राण में प्रतिष्ठित है। यह गायत्री प्राण है, इसलिए गायत्री जगत्-प्रतिष्ठित है। जिस प्राण में सम्पूर्ण देव एक हो जाते हैं तथा समस्त वेद, कर्म और फल भी जिसमें एक हो जाते हैं, वह गायत्री इस प्रकार प्राणरूप होने से जगत् की आत्मा है।

गायत्री को यहाँ जगत्-आत्मा बतला दिया गया है, और साथ ही श्री शंकराचार्य जी ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि और किसी मन्त्र में यह सामर्थ्य नहीं कि साधक के प्राणों की रक्षा कर सके। केवल गायत्री ही में ऐसी शक्ति है।

उपनिषद् के ऋषि का अनुभव—

अब इस उपनिषद् के ऋषि के हृदय और अनुभव की बात सुनिये। उपनिषदों के ऋषि जो कुछ लिखते हैं, वह पूरे निजी अनुभव से लिखते हैं। उनका ज्ञान केवल सुना हुआ नहीं होता, अपितु समाधि-अवस्था में जाकर साक्षात्कार किया हुआ होता है, अतएव उनका एक-एक शब्द पूरी श्रद्धा से स्वीकार करने और तदनुकूल आचरण करने योग्य होता है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' के ऋषि चतुर्दश ब्राह्मण के आरम्भ ही में लिखते हैं—

भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत् स यावदेषु त्रिषु लोकेषु तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ १ ॥

—भूमि, अन्तरिक्ष, द्यौ—ये आठ अक्षर हैं। आठ अक्षरवाला ही गायत्री का एक (प्रथम) पाद है; यह (भूमि आदि) ही इस गायत्री का प्रथम पाद है। इस प्रकार इसके पद को जो जानता है, वह इस त्रिलोक में जितना कुछ है उस सबको जीत लेता है ॥ १ ॥

इसके आगे दूसरे मन्त्र में ऋषि यह कहते हैं कि—'ऋचः, यजूंषि, सामानि' ये आठ अक्षर हैं। आठ अक्षरवाला ही गायत्री का द्वितीय पाद है। यह (ऋक् आदि) ही इस गायत्री का द्वितीय पाद है। जो इस प्रकार इसके इस पद को जानता है, वह जितनी त्रयी विद्या है (अर्थात् त्रयी विद्या का जितना फल है) उस सभी को जीत लेता है ॥ २ ॥

और तीसरे मन्त्र में ऋषि गायत्री के तीसरे पाद का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

प्राण, अपान, व्यान—ये आठ अक्षर हैं। आठ अक्षरवाला ही गायत्री का तृतीय पाद है। यह प्राणादि ही इस गायत्री का तृतीय पाद है। जो गायत्री के इस पद को इस प्रकार जानता है, वह जितना यह प्राणि-समुदाय है, सबको जीत लेता है।

इसी तीसरे मन्त्र में ऋषि ने गायत्री के एक चौथे पाद का वर्णन

किया है और लिखा है कि और जो यह तपता (प्रकाशित होता) है वही इसका तुरीय, दर्शतं परोरजा, पद है। जो चतुर्थ होता है, वही तुरीय कहलाता है। 'दर्शतं पदम्' का अर्थ है—मानो दीखता है। 'परोरजा' का अर्थ है—यह सभी रज (लोकों) के ऊपर-ऊपर रहकर प्रकाशित होता है। जो गायत्री के इस चतुर्थ पाद को इस प्रकार जानता है, वह इसी प्रकार शोभा और कीर्ति से प्रकाशित होता है ॥ ३ ॥

इसके पश्चात् पाँचवें मन्त्र में ऋषि ने गायत्री को प्राणों का त्राण करनेवाली लिखा है, और बतलाया है कि इसी गायत्री का उपदेश गुरु अपने शिष्य को उपनयन के समय करता है। पाँचवें मन्त्र में ऋषि ने यह आदेश दिया है कि गायत्री-छन्दवाली सावित्री ही का उपदेश करना चाहिए, और किसी का नहीं। सातवें मन्त्र में यह दर्शाया है कि गायत्री की उपासना जिस कामना से की जाती है, वह पूर्ण होती है। और अन्तिम मन्त्र में गायत्री के विधान के लिए यह कथा लिखी है—उस विदेह जनक ने बुडिल से यह बात कही थी कि तूने जो अपने को गायत्रीविद् (गायत्री तत्त्व का ज्ञाता) कहा था, तो फिर हाथी होकर भार क्यों ढोता है? इसपर उसने कहा—हे सम्राट्! मैं इसका मुख ही नहीं जानता था। तब जनक ने कहा—इसका मुख अग्नि ही है। यदि अग्नि में लोग बहुत-सा ईंधन रख दें तो वह इस सभी को जला डालता है। इसी प्रकार ऐसा जाननेवाला बहुत-सा पाप करता रहा हो, तो भी वह उस सबको भस्म करके शुद्ध, पवित्र, अजर-अमर हो जाता है।

ये आठों मन्त्र बड़े महत्त्व के हैं और इनको खोलने के लिए एक बड़ी लम्बी व्याख्या की ही नहीं अपितु एक लम्बे और परिपक्व अनुभव की भी आवश्यकता है। पहले मन्त्र में यह कहा है कि गायत्री के पहले पाद को जान लेने से त्रिलोकी के सारे पदार्थों को साधक जीत लेता है। दूसरे मन्त्र में यह कहा है कि जो गायत्री के दूसरे पाद को जान लेता है वह त्रयी विद्या को, उसके फल को जीत लेता है। तीसरे मन्त्र

में यह बतलाया है कि तीसरे पाद को जान लेने से सारे प्राणि-समुदाय को जीत लेता है और चौथे तुरीय पाद को जानकर शोभा और कीर्ति-वाला होकर चमकता है। इन तीनों मन्त्रों में जो 'जान लेने' की बात कही है, यह जानना या जान लेना क्या है? क्या जानने का प्रयोजन यह है कि गायत्री के तीनों पदों में आये शब्दों के अर्थ जान लिये जाएँ? किसी पुस्तक से पढ़कर अथवा किसी विद्वान् से गायत्री की व्याख्या सुनकर क्या 'जानना' हो जाता है? यदि इसी प्रकार से 'जानना' की बात पूरी हो जाती, तब तो गायत्री-मन्त्र के सारे ही विद्वानों ने त्रिलोकी, श्री-विद्या और प्राणिसमूह को जीत लिया होता, परन्तु ऐसा दृष्टिगोचर तो हो नहीं रहा। तब इस 'वेद अप्येवंविद्'—'जो इस प्रकार जानता है'—का वास्तविक प्रयोजन क्या है? श्री शंकराचार्य जी ने भी इन मन्त्रों का भाष्य करते हुए इसका रहस्य नहीं खोला। उन्होंने भी 'अप्येवंविद्' तथा 'वेद' शब्दों का भाष्य इन्हीं शब्दों में कर दिया है।

जानना क्या?

अनुभवी लोग और जानने की अवस्था तक पहुँचे हुए कुछ महानुभाव इस जानने का प्रयोजन यह बतलाते हैं कि जब साधक गुरु से गायत्री का उपदेश लेता है तो वह फिर इसपर मनन करता है। निरन्तर दीर्घकाल तक मनन करते-करते प्रभु-कृपा से वह शुभ घड़ी आती है, जब साधक 'निदिध्यासन' की अवस्था में पहुँचता है और यहाँ पहुँचकर साधक फिर एक लम्बे काल तक इस निदिध्यासन के मीठे समुद्र में एक अद्भुत आस्वादन लेता रहता है; तब ध्यान की पाँचवीं परिपक्व-अवस्था में उसे एक-एक पाद का, पाद के एक-एक शब्द का और शब्द में निहित ज्योतिस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार होता है—तब वह जाना जाता है। इसी अवस्था में पहुँचकर कहा जा सकता है कि एक पाद, या दो पाद, या तीसरे पाद को जाना गया। यह साक्षात्-कार की अवस्था कैसे प्राप्त होती है, यह गायत्री-उपासना की विधि के वर्णन में बतलाया जा सकेगा।

इन मन्त्रों में रहस्य की कुछ और बातें भी हैं। इस अध्याय के दूसरे ब्राह्मण में बतला दिया है कि यदि साधक या उपासक बनना है तो पहले इन्द्रियों का दमन करो, चित्त को दया से भरपूर करो और दानशील बनो। यह एक अटल सत्य है कि दमनशील, दयालु और दानशील होने पर ही मानव को उपासना का अधिकार मिलता है। ये तीनों गुण यम-नियम की ओर संकेत करते हैं।

हृदय कहाँ?

एक और अनुभव की बात ऋषि ने तीसरे ब्राह्मण में बतलाई है, और हृदय को 'प्रजापति' कहकर इसके द्वारा उपासना करने का महत्त्व प्रकट किया है। यह तो निस्सन्देह निर्विवाद निश्चय है कि उपासना, जो हृदय से की जायेगी वही फलवती होगी। यह हृदय इतना आवश्यक और अमूल्य-दिव्य पदार्थ है कि वेद-उपनिषद् सारे शास्त्र यही कहते हैं कि भगवान् के दर्शन हृदय ही में होते हैं। स्वयं वेद कह रहा है—

> ओं वेनस्तत् पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।

—विद्वान् पुरुष उस परमात्मा को (हृदय की) गुफा में छिपा हुआ दिव्य चक्षु से देखता है जो सारे विश्व का एक आश्रय है।

'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में यह अनुभव ऋषि ने बतलाया है—

> एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
> हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥
>
> श्लोक ४ : १७॥

—वह महान् आत्मा देव विश्वकर्मा सदा मनुष्यों के हृदय (हृदयाकाश) में रहता है। वह हृदय से, विवेक-बुद्धि से, मन से प्रकाशित होता है; जो इसको जानते हैं, वे अमृत हो जाते हैं।

इसी प्रकार मुण्डक २।१।७ में 'निहितं गुहायाम्'—हृदय की गुफा में छिपे हुए भगवान् को हृदय में ही देखने का आदेश है। और तै० २।१ में 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' अर्थात् ब्रह्म सत्य (सदा एकरस वर्तमान), ज्ञान और अनन्त है

श्रौर हृदय की गुफा के ग्रन्दर परमाकाश (हृदयाकाश) में छिपा हुग्रा है ऐसा बतलाया है। 'मुण्डक' के श्रौर भी कितने स्थलों में हृदय-गुहा का वर्णन करते हुए हृदयाकाश में प्रभु की खोज का ग्रादेश दिया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि मानव-देह में हृदय का भाग विशेष महत्त्व रखता है। ग्रतएव इसका निर्णय ग्रनिवार्य प्रतीत होता है कि हृदय में भगवान् की खोज से पहले हृदय की खोज की जाये। इस सम्बन्ध में 'शतपथ' ब्राह्मण ने जो यह कहा है कि—

निकक्षे निकक्षे हि हृदयम् ॥ ६ । १ । २ । ४० ॥

इससे तो यह पता लगा कि शरीर में ग्रनेक हृदय हैं, तब प्रभु-दर्शन कहाँ पाएँ ? यह तो स्पष्ट है कि दर्शन वहाँ होंगे जहाँ भगवान् श्रौर उसका भक्त दोनों इकट्ठे होंगे। भगवान् तो सर्वत्र हैं; कोई भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ वे न हों। हाँ, भक्त (जीवात्मा) एक ही स्थान पर है। तब परिणाम यह निकला कि जीवात्मा के निवास-स्थान पर ही दर्शन सम्भव है। जीवात्मा ही मन, बुद्धि, चित्त, ग्रहंकार से, ज्ञानेन्द्रियों से श्रौर कर्मेन्द्रियों से कार्य लेता है। इस जीवात्मा के ग्रन्तःकरण पर प्रतिविम्बित होने से इस सारे शरीर का व्यवहार चल रहा है, श्रौर यह ग्रन्तःकरण विज्ञान के दो मुख्य केन्द्रों में विभक्त है—ब्रह्मरन्ध्र तथा हृदय में। ब्रह्मरन्ध्र में पंच तन्मात्राग्रों के सूक्ष्म मण्डल, मन, बुद्धि, पाँच ज्ञानेन्द्रियों के मण्डल, पाँच कर्मेन्द्रियों के मण्डल, ये सत्रह सूक्ष्म पदार्थ ध्यान-ग्रवस्था में स्पष्ट देखे जाते हैं। ये स्वयं तो सब-के-सब जड़ हैं, स्वयं कुछ भी करने में ग्रसमर्थ हैं। जीवात्मा ही ग्रपनी शक्ति द्वारा इनको क्रिया में लाता है। तो कहना होगा कि जीवात्मा का निवास यहाँ पर भी है। परन्तु ग्रन्तःकरण के दो पदार्थ चित्त श्रौर ग्रहंकार का कार्यालय हृदय में है, वहीं सूक्ष्म प्राण-मण्डल भी है, वहीं ग्राकृति श्रौर ब्रह्म-ज्योति भी है, इसलिए जीवात्मा का निवास इस हृदय में भी मानना ही होगा।

जो लोग 'शतपथ' के इस कथन को—'निकक्षे निकक्षे हि हृदयम्'—उलझन में डालनेवाला समझते हैं, उनके प्रति मेरा ग्रनुभव यह

कहता है कि हृदय के सम्बन्ध में 'शतपथ' का यह कथन बड़ा समाधान करनेवाला है, क्योंकि निस्सन्देह हृदय एक से ग्रधिक हैं, परन्तु इन कई हृदयों के कर्त्तव्य भी भिन्न-भिन्न हैं। सारे ही शरीर में स्नायुजाल बिछा है, जिसे ग्रंग्रेज़ी में 'नर्व्स सिस्टम' कहते हैं। इस स्नायु-समूह में ज्ञानवाही स्नायु भी हैं, श्रौर उन्हीं के द्वारा ग्रात्मा से प्रतिबिम्बित चित्त में शरीर के हरएक स्थान के समाचार मिलते हैं। स्नायु-जाल एक बड़े बिजलीघर की तरह है। मस्तिष्क (Brain), मेरुदण्ड (Spinal-cord), स्थूल हृदय (Heart), धड़कनेवाला हृदय, जो फेफड़े में रक्त भेजता है श्रौर फिर उसे लौटाकर सारे शरीर में भेजता है, जिसे रक्त-वाहक ग्रंग-समूह (Circulatory system) भी कह सकते हैं, ग्राज्ञा-चक्र (Medula plexus), स्थूल हृदय की ग्रपेक्षा सूक्ष्म हृदय (Mind), नाभि-चक्र (Solar Plexus), जठराग्नि-केन्द्र (Digestive system), श्रौर इनसे सम्बन्धित स्नायु—इस बिजलीघर के मुख्य कार्यालय (हैडक्वार्टर) हैं। ये सारे ही हैडक्वार्टर हृदय कहलाते हैं, परन्तु इनमें से या इनसे पृथक् वह कौन-सा हृदय है जिसे ब्रह्म-गुहा कहते हैं, जहाँ प्रभु-दर्शन होते हैं श्रौर जिसके सम्बन्ध में 'बृहदारण्यक-उपनिषद्' के ऋषि ने यह कहा है कि 'हृदय' प्रजापति है ?

इसके सम्बन्ध में दो विचार चल रहे हैं। एक तो यह कि हृदय मस्तिष्क में या उसके निकट ललाट-चक्र में है। इसी के साथ यह भी एक मत है कि हृदय ग्राज्ञा-चक्र या युक्त त्रिवेणी में है; यह वह स्थान है, जहाँ इड़ा (गंगा), पिंगला (यमुना) श्रौर सुषुम्णा (सरस्वती) तीनों नाड़ियाँ ग्राकर मिलती हैं। इसी ग्राज्ञा-चक्र के सम्बन्ध में 'योग-स्वरोदय' में यह लिखा है—

तदेव हृदयं नाम सर्वशास्त्रादिसम्मतम् ।
ग्रन्यथा हृदि किञ्चास्ति प्रोक्तं यत् स्थूलबुद्धिभिः ॥

—यही (ग्राज्ञा-चक्र) ही सर्वशास्त्र-सम्मत हृदय है। स्थूलबुद्धि-वाले ही ग्रन्य स्थूल स्थान को हृदय कहते हैं। यह बात तो ठीक है कि जिस हृदय की हमें खोज है वह स्थल स्पन्दनवाला—धड़कनेवाला—

हृदय नहीं है, परन्तु वह हृदय केवल आज्ञा-चक्र में ही हो, ऐसा एक-पक्षीय फैसला भी जँचता नहीं, क्योंकि 'पातञ्जल योगप्रदीप' में योग-दर्शन के समाधि-पाद में ३६वें सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—

"भाष्यकारों ने हृदय-कमल अर्थात् अनाहत चक्र में मन को स्थिर करने का वर्णन इस प्रकार किया है—हृदय-कमल में धारण करने से योगी को जो बुद्धि संविद् होती है, उसमें स्थिति की दृढ़ता से प्रवृत्ति—सूर्य, चन्द्र, मणि और प्रभा रूपाकार विकल्पित होती है···भाव यह है कि नाभि से ऊपर हृदय-प्रदेश में जो हृदय-पद्म है यद्यपि वह मुख नीचे की ओर, नलिका ऊपर की ओर होने से अधोमुख है, तथापि प्रथम रेचक प्राणायाम के अभ्यास द्वारा वह ऊर्ध्वमुख और प्रफुल्लित किया जाता है। उस ऊर्ध्वमुख प्रफुल्लित पद्म के मध्य में 'ओ३म्' है।" और फिर आगे चलकर लिखा है कि 'यही चित्त का स्थान है।'

और योगदर्शन विभूति-पाद के ३४वें सूत्र—

'हृदये चित्तसंवित्।'

की व्याख्या में लिखा है—हृदय-कमल चित्त का निवास-स्थान है, उसमें संयम करने से वृत्तिसहित चित्त का साक्षात्कार होता है। ऊपर भाष्यकार बतला चुके हैं कि यह हृदय-कमल नाभि से ऊपर है और 'छान्दोग्योपनिषद्' तथा 'कठोपनिषद्' में यह लिखा है—

> शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
> तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे
> भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति॥ छान्दोग्य० ८। ६-६॥ कठ० ६। १६॥

—एक सौ एक हृदय की नाड़ियाँ हैं। उनमें से एक मूर्धा की ओर निकलती है। उस नाड़ी से ऊपर चढ़ता हुआ (साधक) अमृतत्व (ब्रह्म-लोक) को प्राप्त होता है। दूसरी (नाड़ियाँ) निकलने में भिन्न-भिन्न गति देनेवाली होती हैं।

इससे भी यही प्रकट होता है कि हृदय नीचे है, जहाँ एक नाड़ी मूर्धा को जाती है।

वेद भगवान् में भी और 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में भी कुछ पाठ-

भेद के साथ कहा है—

> सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
> स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम्॥ श्वे० ३। १४॥

—यह पुरुष (आत्मा) हजारों सिर, हजारों नेत्र और हजारों पैरों-वाला है। वह इस विश्व को चारों ओर से घेरकर भी दस अंगुल उससे परे खड़ा है।

श्री शंकराचार्य जी ने 'दस अंगुल परे' का अर्थ करते हुए इसका अर्थ हृदय किया है, क्योंकि वह नाभि से दस अंगुल ऊपर है। अभिप्राय यह है कि यह ब्रह्माण्ड को घेरकर हृदय में स्थित है।

महर्षि दयानन्द और हृदय—

महर्षि दयानन्द जी ने इस हृदय के सम्बन्ध में 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' के उपासना-विषय में यह बतलाते हुए कि धारणा, ध्यान और समाधि से क्या होता है, और उस प्रभु के दर्शन पाने की विधि बतलाने के लिए कठ, मुण्डक तथा छान्दोग्योपनिषद् के कुछ मन्त्र उद्धृत किए हैं और उनकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

"जो मनुष्य धर्माचरण से परमेश्वर और उसकी आज्ञा में अत्यन्त प्रेम करके अरण्य अर्थात् शुद्ध हृदय रूपी वन में स्थिरता के साथ निवास करते हैं, वे परमेश्वर के समीप वास करते हैं। जिस समय इन सब साधनों से परमेश्वर की उपासना करके उसमें प्रवेश किया चाहें, उस समय इस रीति से करें कि—कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में, और उदर के ऊपर जो हृदयदेश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है उसमें, कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है, और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर-भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है।"

हृदय के सम्बन्ध में इतना स्पष्ट अनुभव बतलाने का श्रेय महर्षि

दयानन्द को ही प्राप्त है। जब दोनों स्तनों के बीचवाले हृदय या अनाहत चक्र में प्रभु के दर्शन होते हैं तो कहना होगा कि दर्शन न तो मन को करने हैं, न चित्त को है। ये तो भौतिक पदार्थ हैं, इनकी क्या मजाल कि आत्मा को देख पाएँ ! दर्शन तो जीवात्मा ही को करने हैं, और उसका इस हृदय में विराजमान होना अनिवार्य है। तब ब्रह्मरन्ध्र अथवा आज्ञा-चक्रवाले हृदय में मुख्य कौन हुआ ? इसका बड़ा सुन्दर समाधान स्वयं वेद ने कर दिया है—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्काद् ऊर्ध्वः प्रेरयत् पवमानोधिऽशीर्षतः ॥

अथर्ववेद १०। २। २६ ॥

—(मूर्धानम्) मस्तिष्क से ऊपर ब्रह्मरन्ध्र (च) और (यत् हृदयं) जो हृदय है उसको (संसीव्य) सीकर-मिलाकर (अस्य पवमानः अथर्वा) इस पवित्र एकरस रहनेवाले परमात्मा के दर्शन पाये। (मस्तिष्कात् ऊर्ध्वः) मस्तिष्क से ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में और (शीर्षतः अधि) सिर के नीचे हृदय में (प्रेरयत्) काम करे—खोज करे।

वेद भगवान् के इस आदेशानुसार ब्रह्मरन्ध्र तथा नीचे का हृदय या अनाहत चक्र, यही दो स्थान ऐसे हैं जिनको सीकर एक कर देना है; तब इन दोनों स्थानों में उसकी खोज करनी है, जो पवमान है और जो अथर्वा है। यहीं निरन्तर धारण करके ध्यान करते हुए दर्शन पाये जा सकते हैं। गंगोत्री के महात्मा योगनिष्ठ ब्रह्मचारी व्यासदेव जी महाराज ने भी अपने यौगिक अनुभवों में बतलाया है कि विज्ञान के—दर्शन के यही दो मुख्य स्थान हैं—(१) ब्रह्मरन्ध्र, और (२) हृदय-प्रदेश। अभ्यास से ये दोनों एक हो जाते हैं।

मेरा अपना अनुभव—

हृदय में दर्शन के सम्बन्ध में मेरा अनुभव यह है कि स्थूल शरीर से अन्तर्मुख होकर ध्यान जब परिपक्व होने लगता है तो पहले पाँच तन्मात्राओं तथा इन्द्रियों के गोलकों की भिन्न-भिन्न रंग की ज्योतियाँ दिखाई देने लगती हैं। ये हैं तो भौतिक ज्योतियाँ, परन्तु साधक को

विश्वास दिलाती हैं कि तुम ठीक मार्ग पर चल रहे हो। इसके पश्चात् परिपक्व होते-होते ध्यान जब अगले पड़ाव पर जमता है तो फिर अहंकार का साक्षात्कार होता है। तब और आगे बढ़कर अस्मिता, फिर प्रकृति और अन्त में एक बृहद् ज्योति आती है जो भौतिक नहीं, आत्मिक है। और ये सारे दृश्य ब्रह्मरन्ध्र तथा आज्ञा-चक्रवाले हृदय में भी आते हैं, और नाभि से दस अंगुल ऊपर अनाहत-चक्रवाले हृदय में भी आते हैं। दोनों ही केन्द्रों पर सफलता मिलती है।

गायत्रीविद् के पाप कैसे जलते हैं ?

'बृहदारण्यकोपनिषद्' के हृदय शब्द ने पर्याप्त लिखने पर बाधित कर दिया। अब यह हृदय कोई उलझन की वस्तु न रहा। हाँ, अभी इस उपनिषद् का एक रहस्य और खुलना आवश्यक है, और वह यह कि जिस गायत्रीविद् ने गायत्री का मुख अग्नि जान लिया उसके सब पाप जल जाते हैं।

गायत्री मन्त्र के दूसरे पाद में बड़े महत्त्व का शब्द 'भर्गः' है। इसकी व्याख्या तो यथास्थान होगी; यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त है कि 'भर्ग' परमात्मा की शक्ति को कहते हैं जो अतिश्रेष्ठ होने के साथ पापनाशक भी है और जैसे अग्नि में जला देने की, दहन कर देने की शक्ति है, ऐसे ही भर्गः-शक्ति साधक के पापों को भस्म कर देती है। जब साधक इस भर्गः शब्द का विचार करता हुआ, इस शक्ति के साथ अपना सम्पर्क बना लेगा, तब साधक के पाप रह ही कहाँ जाएँगे !

'बृहदारण्यक' ने गायत्री-मन्त्र की कितनी बड़ी महिमा वर्णन की है, इसका कुछ उल्लेख यहां कर दिया गया है। अब देखिये कि मनु भगवान् ने गायत्री-जप के सम्बन्ध में क्या आदेश किया है।

'मनुस्मृति' में गायत्री—

मनु भगवान् की स्मृति का यह श्लोक मानव को कितना धैर्य बँधानेवाला है—

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत् त्रिकं द्विजः।
महतोऽप्येनसो मासात् त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥ २। ७९ ॥

—जो द्विज एक मास तक बाहर एकान्त स्थान में प्रतिदिन एक हज़ार बार गायत्री मन्त्र का जप करता है, वह बड़े भारी पाप से भी इस प्रकार छूट जाता है, जैसे साँप केंचुली से।

'मनुस्मृति' के ये श्लोक भी देखिये—

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत्।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः॥ २। ७७॥

—परमेष्ठी प्रजापति ने तीन वेदों से तत् शब्द से आरम्भ होनेवाले गायत्री मन्त्र का एक-एक पाद दुहा।

तत्सवितुर्वरेण्यम्, पहला पाद; भर्गो देवस्य धीमहि, दूसरा पाद; और धियो यो नः प्रचोदयात्, तीसरा पाद।

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥ २। ७८॥

—इस (ओम्) अक्षर को, और भूः भुवः स्वः इन तीनों व्याहृतियोंवाली गायत्री को प्रातः-सायं दोनों समय जपनेवाला विद्वान् वेद के स्वाध्याय से पुण्य को प्राप्त होता है।

एतयर्चा विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया।
ब्रह्मक्षत्रियविड्योनिर्गर्हणां याति साधुषु॥ २। ८०॥

—इस (गायत्री) ऋचा के जप से रहित और अपनी क्रिया अर्थात् कर्तव्य से छूटा हुआ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य भले लोगों में निन्दा का पात्र बनता है।

ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम्॥ २। ८१॥

—ओम् से आरम्भ होनेवाली, तीन महाव्याहृतियोंवाली और तीन पादवाली गायत्री को वेद का मुख जानना चाहिए।

योऽधीतेऽहन्यहन्येतां त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥ २। ८२॥

—जो मनुष्य बिना आलस्य के तीन वर्ष निरन्तर गायत्री का जप करता है, वह मरने के पश्चात् पवन-रूप पवित्र और आकाश-रूप होकर परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामाः परं तपः।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते॥ २। ८३॥

—एक ओम् अक्षर ही (परब्रह्म) प्रभु-प्राप्ति का बड़ा साधन है। प्राणायाम सबसे बड़ा तप है। गायत्री से बढ़कर कुछ नहीं है। सत्य मौन से बढ़कर है।

क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोति यजतिक्रियाः।
अक्षरं दुष्करं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः॥ २। ८४॥

—वेदानुकूल यज्ञ, इष्टियाँ आदि नित्य नहीं, नित्य रहनेवाला कठिनता से जानने योग्य प्रजापति ब्रह्म है; अर्थात् यज्ञादि वैदिक क्रियाओं का फल तो सांसारिक होने से नाशवान् है, गायत्री-ब्रह्म-ज्ञान तो नाशवान् नहीं, ब्रह्मज्ञान निःश्रेयस् है और यज्ञ अभ्युदय।

विधियज्ञाज् जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः सहस्रो मानसः स्मृतः॥ २। ८५॥

—यज्ञ से (गायत्री) जप दस गुणा अच्छा है। उपांशु—बिना शब्द निकाले धीरे-धीरे जप करना सौ गुणा और मन में जप करना हज़ार गुणा अच्छा है।

मनु भगवान् ने इसके आगे यह बतलाया है कि जितने प्रकार के यज्ञ हैं, वे सारे-के-सारे यज्ञ गायत्री-जप के सोलहवें भाग के भी बराबर नहीं। परन्तु यह जप भी तभी सफल होता है, जब गायत्री का साधक अपनी ग्यारह इन्द्रियों को वश कर ले। दूसरे अध्याय के ८८वें श्लोक से लेकर १०३ श्लोक तक इन्द्रियों ही के दमन का वर्णन कर फिर मनु भगवान् कहते हैं—

अपां समीपे नियतो नैत्यिकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वाऽरण्यं समाहितः॥ २। १०४॥

—वन में एकान्त-देश में जाकर जलाशय के समीप बैठकर, एकाग्रचित्त होकर नित्यकर्म करता हुआ गायत्री का भी जप करे।

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः।
नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी॥ २। ११८॥

—जिस विद्वान् ने अपने-आपको वश में कर लिया है, वह केवल गायत्री मन्त्र जाननेवाला ही अच्छा है। और जो नियम में नहीं वश में रहनेवाला नहीं, सर्वभक्षी है, सर्वविक्रयी है, वह वेदों का ज्ञाता भी अच्छा नहीं।

'मनुस्मृति' के इसी दूसरे अध्याय में यह बतलाया गया है कि जब यज्ञोपवीत धारण करता है, तभी मनुष्य का इसी शरीर के साथ दूसरा जन्म होता है और उस दूसरे जन्म में माता गायत्री होती है—

तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम्।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते॥ २। १७०॥

—तब जो इसका ब्रह्म-जन्म है, जिसका चिह्न उपनयन है, वहाँ इसकी माता गायत्री और आचार्य पिता कहलाता है।

भगवान् मनु ने गायत्री के सम्बन्ध में स्पष्ट बतला दिया है कि गायत्री-जप ही सबसे बड़ा जप है, जो भारी-से-भारी पाप से भी मुक्त कर देता है। गायत्री वेद का मुख है, गायत्री वेदों का सार है, गायत्री माता है, गायत्री लौकिक वैभव देनेवाली है, गायत्री मोक्ष देनेवाली है, गायत्री-जप से रहित निन्दा का पात्र है। मानव को सचमुच मानव बनानेवाली गायत्री ही है। 'मनुस्मृति' के ग्यारहवें अध्याय में भी गायत्री-जप की महिमा गायन की गई है। इस ११वें अध्याय में यह प्रसंग है कि कौन-सा पाप कौन-से प्रायश्चित्त से दूर हो सकता है; वहीं सारे व्रतों, सारे प्रायश्चित्तों में गायत्री-जप का विधान है। भगवान् मनु आदेश देते हैं—

सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः।
सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवं प्रायश्चित्तार्थमादृतः॥ ११। २२५॥

—सम्पूर्ण व्रतों में प्रायश्चित्त के लिए श्रद्धापूर्वक यथाशक्ति नित्य गायत्री तथा पवित्र मन्त्रों का जप करे।

महादेव शिव गायत्री-जप करते थे—

गायत्री-जप का महत्त्व और भी अधिक प्रकट हो जाता है, जब हम 'गायत्री-मंजरी' में महादेव शिव और पार्वती जी का एक संवाद

पढ़ते हैं। इस संवाद का कुछ विवरण यहाँ दिया जाता है[1]—

एक बार कैलास पर्वत पर विराजमान महादेव शिव से पार्वती जी ने प्रश्न किया कि हे योगेश्वर! आप किस योग द्वारा इतनी सिद्धियाँ प्राप्त कर पाए हैं? वह कौन-से योग की उपासना है, जिसने आपको सिद्ध बना दिया है?

इस प्रश्न के उत्तर में महादेव जी ने कहा—

गायत्री वेदमातास्ति साऽऽद्या शक्तिर्मता भुवि।
जगतां जननी चैव तामुपासेऽहमेव हि॥

—गायत्री वेदमाता है, पृथिवी पर वह आद्या शक्ति कहलाती है। वही संसार की माता है। मैं उसी की उपासना करता हूँ।

यौगिकानां समस्तानांसाधनां तु हे प्रिये!
गायत्र्येव मता लोके मूलाधारा विदां वरैः॥

—हे प्रिये! विद्वानों ने समस्त यौगिक साधनाओं की मूलाधार गायत्री ही को माना है।

भूलोकस्यास्य गायत्री कामधेनुर्मता बुधैः।
लोक आश्रयणेनामुं सर्वमेवाधिगच्छति॥

—विद्वानों ने गायत्री को भू-लोक की कामधेनु माना है। संसार इसका आश्रय लेकर सब-कुछ प्राप्त कर सकता है।

कलौ युगे मनुष्याणां शरीराणीति पार्वती!
पृथिवीतत्त्वप्रधानानि जानास्येव भवन्ति हि॥

—हे पार्वती! कलियुग में मनुष्यों के शरीर पृथिवी-तत्त्वप्रधान होते हैं, यह तो तुम जानती ही हो।

सूक्ष्मतत्त्वप्रधानान्युद्योगोद्भूत नृणामतः।
सिद्धीनां तपसामेते न भवन्त्यधिकारिणः॥

—इसलिए अन्य युगों में उत्पन्न हुए सूक्ष्म-तत्त्व-प्रधान मनुष्यों की सिद्धि और तप के ये अधिकारी नहीं होते।

पञ्चाग्नियोगसंसिद्ध्या गायत्र्यास्तु तथापि ते।
तद्युगानां सर्वश्रेष्ठां सिद्धिं सम्प्राप्नुवन्ति हि॥

१. शिव महादेव के भक्तों के लिए यह प्रसंग उद्धृत किया गया है।

—फिर भी वे गायत्री-पंचांग की सिद्धि द्वारा उन युगों की सर्वश्रेष्ठ सिद्धियाँ प्राप्त कर सकते हैं।

गायत्र्येव तपो योगः साधनं ध्यानमुच्यते।
सिद्धीनां सः मता माता नातः किञ्चिद् बृहत्तरम्॥

—गायत्री तप है, योग है, साधन है और यही सिद्धियों की माता मानी गई है। इस गायत्री से बढ़कर अन्य कोई दूसरी वस्तु नहीं।

महर्षि दयानन्द और गायत्री—

महर्षि दयानन्द जी महाराज के जीवन में कितनी ही घटनाएँ ऐसी आती हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि वे भी गायत्री-उपासना में लगे रहते थे और दूसरों को भी गायत्री-जप की प्रेरणा करते थे। बहुत काल तक वे ऐसा भी करते रहे कि अपने हाथ से गायत्री-मन्त्र लिखकर भक्तों को देते, और उनपर १००० अथवा ५०० लिखकर आदेश करते कि इतनी बार इसका जप किया करो।

महर्षि ने पूना में जो व्याख्यान जुलाई, १८७५ में दिये थे और जो 'उपदेश-मंजरी' नाम की पुस्तक में छप चुके हैं, उनमें से १४वाँ भाषण 'नित्य-कर्म और मुक्ति' विषय पर था। उसमें महर्षि ने गायत्री-मन्त्र को महामन्त्र बतलाया और कहा—

"गायत्री-महामन्त्र के अर्थ पर विचार करना चाहिए। इस मन्त्र द्वारा सारे विश्व को उत्पन्न करनेवाले परमात्मा का जो उत्तम तेज है, उसका ध्यान करने से बुद्धि की मलिनता दूर हो जाती है और धर्माचरण में श्रद्धा और योग्यता उत्पन्न होती है। दूसरे किसी मत में प्रार्थना के मन्त्रों की ऐसी गहराई और सचाई नहीं है।

'पंचमहायज्ञविधि' में गायत्री-मन्त्र को गुरुमन्त्र लिखते हुए और यह बतलाते हुए कि गायत्री-मन्त्र तीनों वेदों में विद्यमान है—इस गायत्री-मन्त्र को सर्वोत्कृष्ट मन्त्र लिखा है।

'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' के ग्रन्थ 'प्रामाण्याप्रामाण्य विषय' में गयादि तीर्थों की कथाओं का रहस्य खोलते हुए महर्षि 'शतपथ' का उद्धरण देते हुए लिखते हैं—

प्राणो वै बलं, तत्प्राणे प्रतिष्ठितं, तस्मादाहुर्बलꣳ सत्यादोजीयः। इत्येवम्वेषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता। सा हैषा गयांस्तत्रे। प्राणा वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रे। तद्यद्गयांस्तत्रे गायत्रीनाम्॥

इन वचनों का अभिप्राय है—अत्यन्त श्रद्धा से गया-संज्ञक प्राण आदि में परमेश्वर की उपासना करने से जीवन की मुक्ति हो जाती है। प्राण में बल और सत्य प्रतिष्ठित है, क्योंकि परमेश्वर प्राण का भी प्राण है, और उसका प्रतिपादन करनेवाला गायत्री-मन्त्र है, जिसको गया कहते हैं। इसलिए कि उसका अर्थ जानकर श्रद्धा-सहित परमेश्वर की भक्ति करने से जीव सब दुःखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। तथा प्राण का भी नाम 'गया' है; उसको प्राणायाम की रीति से रोककर परमेश्वर की भक्ति के प्रताप से पितर अर्थात् ज्ञानी लोग सब दुःखों से रहित होकर मुक्त हो जाते हैं। क्योंकि परमेश्वर प्राणों की रक्षा करनेवाला है, इसलिए ईश्वर का नाम गायत्री और गायत्री का नाम ईश्वर है।

कितने सुन्दर शब्दों में भगवान् दयानन्द ने गायत्री-मन्त्र द्वारा परमात्मा की उपासना से सब दुःखों से छूटकर मुक्ति प्राप्त करने का आदेश दिया है! महर्षि अपने व्याख्यानों में तो गायत्री-जप की प्रेरणा करते ही थे, उन्होंने अपने अमर ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' में भी गायत्री-जप की आज्ञा दी है; तृतीय समुल्लास में महाराज लिखते हैं—

"जंगल में अर्थात् एकान्त देश में जा, सावधान होके, जल के समीप स्थित होकर, नित्य-कर्म करता हुआ सावित्री अर्थात् गायत्री-मन्त्र का उच्चारण, अर्थ-ज्ञान और उसके अनुसार अपने चालचलन को करे, परन्तु यह जप मन से करना उत्तम है।...न्यून से न्यून एक घण्टा ध्यान अवश्य करे। जैसे समाधिस्थ होकर योगी लोग परमात्मा का ध्यान करते हैं, वैसे ही सन्ध्योपासन भी किया करे।"

एक बार महाराजा ग्वालियर से आपने कहा था कि भागवत-सप्ताह की अपेक्षा गायत्री-पुरश्चरण अधिक श्रेष्ठ है। इसी प्रकार मुलतान में व्याख्यान देते हुए महर्षि ने कहा कि गायत्री-मन्त्र सर्वश्रेष्ठ है और इसका जप सब करते आए हैं।

परन्तु गायत्री-मन्त्र का जप तभी फलीभूत होता है जब पहले इसके अर्थ हृदयंगम कर लिये जायें और गायत्री-मन्त्र के आदेशानुसार अपना चरित्र भी बनाया जाय, अर्थात् गायत्री-मन्त्र साधक के जीवन में ओत-प्रोत हो जाय।

'संवर्तस्मृति' में गायत्री—

'संवर्तस्मृति' में यह श्लोक देखिये—

गायत्र्यास्तु परन्नास्ति शोधनं पापकर्मणाम्।
महाव्याहृतिसंयुक्तां प्रणवेन च सञ्जपेत्॥

संवर्तस्मृति, श्लोक २१८॥

—गायत्री द्वारा उपासना से परे पाप-कर्मों के शोधन के लिए कोई मन्त्र नहीं है, अतः प्रणव तथा व्याहृतिसहित गायत्री का जप करे।

'शङ्खस्मृति' में गायत्री—

'शंखस्मृति' में भी गायत्री-जप की महिमा गायन की गई है—

गायत्र्याः परमं नास्ति दिवि चेह च पावनम्।
हस्तत्राणप्रदा देवी पततां नरकार्णवे॥ १२। २५॥

—लोक तथा परलोक में पवित्र करनेवाली गायत्री से परे कोई मन्त्र नहीं है, क्योंकि नरक-रूप समुद्र में गिरते हुए को यह गायत्री हाथ पकड़कर बचाती है।

पराशर मुनि और गायत्री-जप—

पराशर मुनि लिखते हैं—**सर्वेषां जपसूक्तानां गायत्री परमो जपः**—सब प्रकार के जपों में गायत्री-जप श्रेष्ठ है। परमात्मा की उपासना का परम साधन होने के कारण गायत्री-जप को सारे जपों में सर्वोत्तम बतलाया गया है।

'ऋग्विधान' में—

'ऋग्विधान' में गायत्री-जप के सम्बन्ध में कितने ही आदेश हैं। यह 'ऋग्विधान' ऋषि शौनक का ग्रन्थ है। इसमें नाना कामनाओं को

पूर्ण करने के लिए व्रत धारण करने और गायत्री-अनुष्ठान का महत्त्व तथा विधि बतलाई गई है। एक श्लोक में यह कहा गया है कि गायत्री से बढ़कर लोक तथा परलोक के लिए दूसरी कोई वस्तु नहीं।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस का मत—

आपका गायत्री के सम्बन्ध में यह आदेश है कि गायत्री का जप करने से बड़ी शक्ति मिलती है। इसकी साधना करके देखो कितना लाभ होता है।

स्वामी विवेकानन्द का मत—

स्वामी जी का कथन है कि गायत्री सद्बुद्धि का मन्त्र है, और परमात्मा से माँगने योग्य वस्तु सद्बुद्धि ही है। सद्बुद्धि से सन्मार्ग मिलता है और सत्कर्म होते हैं; तब सभी प्रकार के सुखों की प्राप्ति होती है।

लोकमान्य तिलक का मत—

आप कहते हैं कि कुमार्ग को छोड़कर श्रेष्ठ मार्ग पर चलने की प्रेरणा गायत्री-मन्त्र में विद्यमान है। इसी से सत्-असत् का विवेक होता है। इसी से आत्मा को प्रकाश प्राप्त होता है।

महामना पं० मदनमोहन मालवीय जी और गायत्री—

मालवीय जी का कथन है कि गायत्री में ईश्वर-परायणता के भाव उत्पन्न करने की शक्ति है; साथ ही यह भौतिक अभावों को दूर करती है।

स्वामी विरजानन्द और गायत्री—

महर्षि स्वामी दयानन्द के पूज्य गुरु श्री स्वामी विरजानन्द जी ने ऋषिकेश में गायत्री-मन्त्र के जप द्वारा उपासना की थी। श्री स्वामी वेदानन्द जी उनके जीवन-चरित्र में लिखते हैं—

"आज से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व ऋषिकेश में न कोई अन्न-सत्र था, न कोई धर्मशाला थी; थीं यहाँ झाड़ियाँ, जिनमें पर्ण-कुटियाँ बनाकर तपस्वी

महात्मा तपस्या मे रत रहते थे। जठराग्नि को शान्त करने के लिए जंगली बेर या अन्य कई वन्य खाद्य होते थे। तपस्वी लोग पूरा पेट तो कभी भरते ही न थे। उस समय ऋषिकेश में दो प्रकार के प्राणी साम्राज्य करते थे—एक तप-स्वाध्यायनिरत महात्मा और दूसरे हिंसक सिंह-व्याघ्रादि। ऐसा था ऋषिकेश जब पन्द्रह वर्ष का विरजानन्द वहाँ पहुँचा।

मानव-जीवन के चरम लक्ष्य की सिद्धि की अनुपम धारणा के साथ कुटी बनाकर विरजानन्द ऋषिकेश में आकर रहने लगे। कई बार जंगली पशु उनकी कुटिया तोड़ जाते। रात्रि को भी अनेक वार वे उनकी कुटिया को खटखटाते, किन्तु विरजानन्द सदा अभय भाव से अपने मनोरथ की सिद्धि के प्रयत्न में रत रहते थे। प्रातः-सायं जब भी देखो, वे गायत्री के जप में लगे हैं। प्रातःकाल स्नान से निवृत्त होकर वे कण्ठ तक गंगाजल में खड़े होकर निरन्तर साधना साधते रहते। विरजानन्द की यह तपश्चर्या बताती है कि उपनयन के समय उनके पिताजी अथवा आचार्य ने उन्हें गायत्री-मन्त्र के साथ उसके जप की विधि भी अवश्य बतलाई होगी। और यह तो निर्विवाद बात है कि ब्राह्मण-वर्ग में गायत्री की महत्ता पर अटूट तथा अतुलनीय विश्वास है; उनकी सुनिर्णीत धारणा है कि गायत्री-जप के अनुष्ठान से सभी मनोरथों की सिद्धि सम्भव है।"

श्री स्वामी विरजानन्द जी महाराज का एक जीवन-चरित्र श्री देवेन्द्रनाथ जी ने लिखा था, जिसका सम्पादन श्री पं० घासीराम जी ने किया था। उसमें स्वामी विरजानन्द जी के गायत्री-जप के सम्बन्ध में यह लिखा है—

"जिस समय यह अन्धा ब्राह्मण-बालक ऋषिकेश आकर पहुँचा, उस समय उसका उपनयन-मात्र ही हुआ था। उपनयन के समय उसने गायत्री की दीक्षा पाई थी, और यह सुना था कि गरीयसी गायत्री की सिद्धि के बल से मनुष्य ब्रह्म तक का साक्षात्कार कर सकता है। इसी कारण ऋषिकेश में आकर उसने एकमात्र गायत्री का अवलम्बन किया

और अनन्यचित्त होकर वह गायत्री का जप करने लगा। प्रातःकाल, सायंकाल, यहाँ तक कि कभी-कभी रात्रि के मध्य में भी वह गायत्री की सिद्धि में लगा रहने लगा। इसके अतिरिक्त प्रातःकाल स्नान के पश्चात् गंगा के निर्मल जल में कण्ठ तक निमज्जित होकर बहुत देर तक वह गायत्री का जप करता था।"

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विचार—

कवीन्द्र ने गायत्री पर ये विचार प्रकट किये हैं—"भारतवर्ष को जगानेवाला यह मन्त्र इतना सरल है कि एक ही श्वास में इसका उच्चारण किया जा सकता है। भूर्भुवः स्वः कहते हुए तीनों लोकों अर्थात् सारे जगत् को मन में इकट्ठा करके लाना चाहिए कि मैं किसी देश-विशेष का रहनेवाला नहीं हूँ, अपितु समस्त जगत् का अधिवासी हूँ; मैं जिस राजमहल का रहनेवाला हूँ, ये लोक-लोकान्तर उसकी केवल एक-एक दीवार-मात्र हैं। और अपना सम्बन्ध अखिल जगत् के साथ ही जोड़ना चाहिए। जिस प्रकार स्वास्थ्य का इच्छुक मनुष्य शुद्ध वायु-सेवन के लिए खुले मैदान में जाता है, उसी प्रकार प्रतिदिन असंख्य नक्षत्रों से सुसज्जित इस जगत् में खड़ा होकर इस मन्त्र का उच्चारण करे। ब्रह्म का ध्यान करने की यह प्राचीन पद्धति जैसी महान्-उदार है, वैसी ही अत्यन्त सरल भी है। इसमें किसी प्रकार की व्यर्थता और बनावट का प्रवेश नहीं है। बाह्य जगत् और आन्तर बुद्धि, इन दोनों को छोड़कर हमारे पास है ही क्या? इस जगत् को भगवान् अपनी अथक शक्ति से रात-दिन प्रेरणा कर रहे हैं। इसी बात को अनुभव कर लेने से भगवान् के साथ हमारा सम्बन्ध चिर-स्थापित किया जा सकता है। मैं नहीं जानता कि किसी अन्य कौशल, सामग्री, कृत्रिम साधन अथवा मानसिक विचारोद्वेग से यह होना सम्भव है। इस पुनीत मन्त्र के अभ्यास में अन्य किसी प्रकार के तार्किक ऊहापोह, किसी प्रकार के मतभेद अथवा किसी प्रकार के बखेड़े का अवकाश नहीं है और न इसके अन्दर कोई विशेष व्यक्तिगत समीपता या संकीर्णता पाई जाती है।"

डॉ० राधाकृष्णन (भू० राष्ट्रपति) लिखते हैं—

"यदि हम इस सार्वभौमिक प्रार्थना, गायत्री पर विचार करें तो हमें पता चलता है कि इसमें हमें सचमुच कुछ ठोस लाभ होता है। 'गायत्री' हमारे अन्दर पुनः जीवन का स्रोत उत्पन्न करने के लिए एक सच्ची आकुल प्रार्थना है। यह एक खोज है। एक साहसिक अनुसन्धान है। जहाँ तक धार्मिक जीवन या खोज का सम्बन्ध है, 'इति' नाम से कोई रेखा नहीं खींची जा सकती, इनका कोई अन्त नहीं। फ़िलॉसफ़र अथवा दार्शनिक शब्द का अर्थ सचाई का पाठ पढ़ानेवाला नहीं है; इसका अर्थ है—सचाई की खोज करनेवाला। प्रकाश प्राप्त करने अथवा रास्ता ढूंढ निकालने के लिए यह अपने अन्दर-ही-अन्दर केवल एक खोज है। यह जन-समूह में बैठकर नहीं की जा सकती। यह खोज प्रत्येक व्यक्ति को मौन, एकान्त, शान्त, अलग-अलग अपने अन्तस्तल में स्वयं करनी होगी। ध्यान तो केवल साक्षात्कार है, इससे हम अपनी अन्तरात्मा के बीच बँधी हुई सम्बन्ध की गाँठ को देख सकते हैं। गायत्री चाहती है कि हम लगातार उस खोज को जारी रखें।"[1]

महात्मा गांधी कहते हैं—

गायत्री-मन्त्र का स्थिर चित्त और शान्त हृदय से किया हुआ जप आपत्ति-काल के संकटों को दूर करने का प्रभाव रखता है और यह आत्मोन्नति के लिए उपयोगी है।

एक साधारण व्यक्ति के अनुभव—

ये तो बड़े-बड़े शास्त्रों, ऋषियों-मुनियों तथा विद्वानों के आदेश और अनुभव हैं। अब एक साधारण व्यक्ति के अनुभव भी पढ़ लीजिये।

आयु होगी आठ-नौ वर्ष की। हँसने-खेलने के दिन थे। परन्तु वह बालक निराश-हताश था। संसार की कोई सूनी ठौर खोजकर

---

१. हिन्दुस्तान टाइम्स, ११ जनवरी, १९३६ में डॉ० एस० राधाकृष्णन के लेख में से।

वह रोया करता था। साथ ही अपनी मूक भाषा में अपने गाँव से दूर दीखती हुई उन पहाड़ियों से पूछा करता—मेरे से कोई भी प्रसन्न नहीं रहता, यह क्या बात है? मास्टर, मित्र, सगे-सम्बन्धी और दूसरे, सभी मुझसे प्रेम-व्यवहार क्यों नहीं करते? लेकिन वे पहाड़ियां निर्जीव थीं और थीं निश्चल और निष्प्राण। वे भला क्या उत्तर देतीं! परन्तु एक दिन इस बालक की सजल आँखों को देखकर, उसके मुर्झाए चेहरे को देखकर (स्वर्गीय) स्वामी नित्यानन्द जी कारण पूछ बैठे। बालक ने कुण्ठित स्वर से कहा—'मेरा जीवन निरर्थक है। मुझसे कोई प्रसन्न नहीं। किसी भी विषय में मेरा प्रवेश नहीं। ऐसे जीवन से क्या लाभ?' स्वामी जी ने ढारस बँधाते हुए कहा—'निराश मत होओ! मैं तुम्हें एक उपाय बतलाता हूँ, उसका सेवन करो। तुम्हारे हृदय को शान्ति मिलेगी और सब शोक तथा विघ्न-बाधाएँ दूर हो जाएँगी।' बालक ने बालू के कणों में पानी की मिठास का अनुभव किया; इस अन्धकारमय संसार में उज्ज्वल ज्योति का मधुर आभास पाया। वह बालक कहने लगा—'बताइये, आपकी बड़ी कृपा होगी।' इसके पश्चात् स्वामी जी ने कागज़ के टुकड़े पर गायत्री-मन्त्र लिखकर कहा—'प्रातः उषाकाल प्रारम्भ होने से पूर्व ही इस मन्त्र का जप किया करो। और सुनो, खाली जप करने से अधिक लाभ नहीं होता, इसके अर्थ भी जान लो और फिर इसी के अनुकूल अपना व्यवहार भी बनाओ। इसके अर्थों का तो बहुत बड़ा विस्तार है, हाँ, जप के लिए संक्षेप में यह स्मरण रखो—

'हे रक्षक! प्राणाधार! दुःखों को दूर करनेवाले और सुखों को देनेवाले भगवन्! मैं आपके सुन्दर-दिव्य रूप का ध्यान धरता हूँ जो बड़ा श्रेष्ठ है, और आपको वरता हूँ—अपने-आपको आपके अर्पण करता हूँ, हमारी बुद्धि को अपनी ओर ले चलो!'

उस दिन से लेकर बालक प्रातः ४ बजे से पूर्व ही उठकर स्नान इत्यादि के पश्चात् एक आसन पर बैठकर गायत्री-जप करने लगा। चार-पाँच मास के पश्चात् क्या हुआ कि स्कूल की जिस श्रेणी में वह

सर्वदा पाठ स्मरण न होने के कारण पिटता रहता था, अब उसी श्रेणी में अच्छे नम्बर लेने लगा। माता-पिता भी अब उसका मान करने लगे। अब तो उसकी काया पलटने लगी। प्रतिदिन उन्नति करने लगा। हर परीक्षा में ऊँचा स्थान पाने लगा। बालक से युवक हुआ। युवावस्था के प्रारम्भ में ही वह काम-धन्धे में डाल दिया गया। वहाँ भी सर्वदा आगे ही आगे बढ़ता गया। केवल तीस रुपये मासिक पर उसने कार्य आरम्भ किया, परन्तु शीघ्र ही उसी कार्यालय में मुखिया बना दिया गया और थोड़े ही समय के पश्चात् उसने अपना निजी कार्य प्रारम्भ किया। उसमें तो असाधारण सफलता प्राप्त हुई। धन, ऐश्वर्य, यश और कीर्ति, गोधन, वाजिधन, मोटरें आदि सारे ही वैभव एकत्र हो गए। पत्नी मिली, वह भी साक्षात् देवी। सन्तान वह मिली, जो चमक उठी। साथी-सम्बन्धी सब-के-सब अनुकूल, और वृत्ति ऐसी कि सदा पराये काम आने में प्रसन्नता का अनुभव करनेवाली। इतने बड़े वैभव के प्राप्त होते जाने पर भी तीव्र वैराग्य ने सबकी ममता और मोह पर लात मारने की भी सामर्थ्य दे दी और चतुर्थ आश्रम में जा पहुँचे। अब वही बालक ७१ वर्ष का वृद्ध है।

तब से लेकर अब तक इस बालक को एक दिन, एक रात स्मरण नहीं, जब इसने गायत्री-माता की पवित्र गोदी में बैठकर अमृत-पान न किया हो। गायत्री के मन्त्र के जप तथा तदनुकूल आचरण बनाने से उसे जीवन में रस आने लगा और वातावरण अनुकूल होने लगा। अब, जब कभी जीवन-यात्रा की बात चलती है तो वह यही कहता है कि यह सब गायत्री-माता की कृपा है—

गायत्री के जाप से, मिटें सकल सन्ताप।
प्रेममग्न हो भक्तजन, जपें निरन्तर जाप॥

३

महामन्त्र-व्याख्यान

मानसरोवर के तट पर—

मेरी प्रबल इच्छा थी कि मुझे जीवन में ऐसा अवसर मिले, जब मैं मानसरोवर (कैलास) के शान्त, एकान्त, निस्तब्ध तट पर बैठकर गायत्री-मन्त्र के अर्थों के रहस्य पर विचार कर सकूँ। और दयालु प्रभु ने ऐसी कृपा की कि उसी वर्ष जब मैंने महामन्त्र पर कुछ लिखना प्रारम्भ किया तो मुझे यह सुअवसर प्राप्त हो गया। निस्सन्देह मानसरोवर तथा कैलास पर्वत तक पहुँचने का मार्ग बड़ा कठिन, विकट तथा थका देनेवाला है। अल्मोड़ा से कैलास २५० मील की दूरी पर है। पैदल ही चल पड़ा मैं अल्मोड़ा से। कितनी ही कठिन चढ़ाइयाँ और कितनी ही तीव्र उतराइयाँ चढ़नी-उतरनी पड़ीं; अत्यन्त गर्मी तथा हिमाच्छादित पर्वतों की अत्यन्त सर्दी भी सहन करनी पड़ी; भूख-प्यास को भी सहन करना पड़ा। यह भयंकर यात्रा वास्तव में शारीरिक तथा मानसिक तप का एक बहुत बड़ा साधन है।

परन्तु अब मैं इस प्रकार तप करके मानसरोवर के सुन्दर, नीले, मीठे जल के शान्त किनारे पर बैठा ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ। थोड़ी देर हुई, जब मैं मानसरोवर की झील में (जो समुद्रतट से लगभग १५ हज़ार फ़ीट ऊँची है) स्नान कर रहा था तो तीव्र वायु के वेग से मानसरोवर में बड़ी-छोटी तरंगें उठ रही थीं। स्नान कर चुका तो जहाँ शरीर शीतल हुआ, मानसरोवर का जल भी और मेरा मन भी निश्चल हो गया। अब वायु का वेग भी नहीं; जल की तरंगों की भी कलकल नहीं; एक दिव्य निस्तब्धता है—सारी ही प्रकृति ने जैसे मौन धारण कर लिया हो; तब मेरे मन ने भी मौन साध लिया, और बुद्धि गायत्री-माता की गोद में बैठ इसके रहस्य जानने में निमग्न होने लगी।

ओम्

ओम् सारे संसार का प्राण है। सृष्टि-उत्पत्ति के समय सबसे पहला जो नाद सुनाई दिया वह ओम् था। अब भी, जब और कोई ध्वनि नहीं होती तो यही ओम् की ध्वनि, न केवल बाह्य श्रोत्र ही सुनते हैं, अपितु अन्तःकरण भी ओम् का ही नाद सुनता है। ओम् का तीन प्रकार का उच्चारण (१) मुख द्वारा दीर्घ स्वर से, (२) नासिका द्वारा गम्भीर स्वर से, और (३) सर्वथा मौन रहकर होता है। केवल हृदय में ओम् का निरन्तर जप किया जाए तो ओम् अक्षर के जप से मुनिअवस्था प्राप्त होते-होते ध्यानावस्था आने लगती है। वेद भगवान् ने ओम् ही के जप का विधान किया है और परमात्मा ने वेद में स्वयं अपना नाम ओम् बतलाया है। 'यजुर्वेद' के अन्तिम अध्याय के अन्तिम मन्त्र के अन्त में—'ओम् खम् ब्रह्म' तीन शब्दों में बतला दिया कि परमात्मा का नाम ओम् है, जो सर्वव्यापक है और सबसे बड़ा है। यजु० ४०।१५ में मानव-कल्याण के लिए आदेश है, 'ओम् क्रतो स्मर'—हे कर्मशील! ओम् का स्मरण कर। क्योंकि, यह ओम् ही सबका सहारा है।

"उद्गीथ उपाश्रयः" (अथर्व० १५।३।६) ओंकार टेक (सहारा) है। 'यजुर्वेद' २।१३ में भी यही आदेश है—'ओम् प्रतिष्ठ' अर्थात् ओम् पर निश्चय रख।

एक आस्तिक के लिए तो वेद का ही आदेश पर्याप्त और सर्वोपरि है, परन्तु कुछ लोग ऋषि-मुनियों तथा तपस्वियों के अनुभव भी जानना चाहते हैं। उन्हीं की जानकारी के लिए यह प्रसंग दिया जा रहा है कि सारे शास्त्रों ने ओम् ही को परमात्मा का निज नाम दर्शाया है। और तो और, तान्त्रिक मन्त्र भी तब तक पूर्ण नहीं होते, जब तक उनके आदि में ओम् न बोला जाए।

'गोपथ ब्राह्मण' पूर्व भाग के प्रथम प्रपाठक की ३०वीं कण्डिका में ओम् के सम्बन्ध में प्रश्न होने पर यह बतलाया है—

आत्मभैषज्यमात्मकैवल्यमोङ्कारः।

—ओंकार आत्मा को चिकित्सा और आत्मा की मुक्ति देनेवाला है।

'गोपथ ब्राह्मण' उत्तर भाग के तीसरे प्रपाठक की ११वीं कण्डिका में यह आदेश है—

अमृतं वै प्रणवः, अमृतेनैव तन्मृत्युं तरति। तद्यथा मन्त्रेण वा वंशेन वा गर्तं संक्रमेत एवं तत्प्रणवेनोपसन्तनोति।

प्रणव=ओम् जीवन है, जीवन ओम् के द्वारा मृत्यु को पार करता है। जैसे मन्दर या बाँस के द्वारा गड्ढे को लाँघा जाता है, ऐसे ही प्रणव=ओम् को सेतु (पुल) बनाता है।

ओम् ही भव-सागर से पार लंघानेवाला है; मानव-जीवन का आदि-अन्त यही है। शास्त्र में ऐसा विधान है कि जब बालक अथवा बालिका का जन्म हो, तो स्नान के पश्चात् सबसे पूर्व स्वर्ण की शलाका से मधु तथा घी के साथ बच्चे की जिह्वा पर 'ओ३म्' लिखो। जन्म-काल ही में मानव को आदेश मिल गया कि तेरी वाणी पर सदा ओम् रहे, यही तेरे जीवन का सहारा है। और मृत्यु-समय भी वेद ने यही आदेश दिया है कि 'ओं क्रतो स्मर'—हे कर्मशील, ओम् का स्मरण कर। 'प्रश्नोपनिषद्' ५।७ में भी यही कहा है—

तमोंकारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्। यतच्छान्तमजरममृतमभयं परञ्चेति।

—ओंकार के सहारे यह विद्वान् उस शान्त, अजर, अमर, अभय और व्यापक परमात्मा को प्राप्त होता है; अर्थात् ओम् पर ध्यान जमाता हुआ जो ज्ञानी प्राण त्यागता है, वह परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होता है। भगवान् कृष्ण ने अधिक स्पष्ट शब्दों में अर्जुन को बतलाया—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ गीता० ८।१२॥

—जो पुरुष ओम् इस एक अक्षर-रूप ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ तद्वाच्य ब्रह्म का ध्यान धरता हुआ शरीर को त्यागकर प्रस्थान करता है, परमगति को प्राप्त होता है।

संसार में नेत्र खोलते ही वाणी पर ओम् और संसार में नेत्र बन्द करते समय वाणी पर ओम्—तो क्या जन्म और मृत्यु के बीच में जो काल का अवकाश है, उसमें ओम् नहीं ? यदि जीवन-भर ओम् का स्मरण, ओम् का जप तथा ओम् का कीर्तन नहीं किया, तो अन्त-समय वाणी पर ओम् आएगा कैसे ? ओम्-जप का अभ्यास तो प्रथम दिन ही से कराना तथा करना होगा।

ओम् आदिकाल से लेकर सारे ज्ञानियों तथा बालकों का भी आधार है। इसी को सहारा बनाकर भवसागर को पार किया जा सकता है। ओम् का अर्थ ही सर्वरक्षक, सर्वव्यापक परब्रह्म है, और परमात्मा का निज नाम होने के कारण इस नाम से प्रभु को पुकारा जाएगा तो परमात्मा की कृपा शीघ्र होगी।

योगी याज्ञवल्क्य ने भी यही कहा है—

अदृष्टविग्रहो देवो भावग्राह्यो मनोमयः।
तस्योङ्कारः स्मृतो नाम तेनाऽऽहूतः प्रसीदति॥

—जो ब्रह्म अदृश्य है, इन इन्द्रियों से जो देखा नहीं जाता, जो भावमात्र से गृहीत होता है और मनन द्वारा जिसका परिचय होता है, उसका नाम ओंकार है; इस नाम से पुकारने से वह प्रसन्न होता है।

'योगदर्शन' में परमात्मा का नाम—

तस्यवाचकः प्रणवः॥ १। २७॥

—इस ईश्वर का (वाचकः) बोधक=बतलानेवाला शब्द (प्रणवः) ओंकार है और इसी ओम् के अर्थों पर निरन्तर विचार तथा जप करने का आदेश 'योगदर्शन' के पतंजलि मुनि ने दिया है, ताकि चित्त एकाग्र होकर निरुद्ध हो सके।

'छान्दोग्योपनिषद्' में ओम् ही के गायन का विधान है—

ओम् इत्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत॥ ३। १। १॥

—ओम् इस अक्षर को ही उद्गीथ (उद्+गीथ=सबों के गाने योग्य) समझकर मनुष्य उपासना करे।

इसी उपनिषद् में ऋषि ने आगे चलकर बतलाया है कि ओम् के द्वारा ही उपासना क्यों करनी चाहिए और अपने योगबल द्वारा ऋषि ने ध्यानावस्था में देखा—

"यह ओम् अक्षर तो सबका सार है। सब भूतों का रस-सार पृथिवी है। पृथिवी का सार जल है, जल का सार ओषधि, ओषधियों का सार मानव-देह, मानव-देह का सार वाणी, वाणी का सार वेद, वेद का सार सामवेद-मन्त्रों द्वारा प्रभु का गुण-गान और सामवेद का सार उद्गीथ, ओम्-गान।" अर्थात् ओम् सारे रसों का अन्तिम सार है।

'प्रश्नोपनिषद्' में यह प्रश्न पूछा गया कि मरणपर्यन्त जो कोई ओंकार का ध्यान करे उसे क्या फल होता है ? इसके उत्तर में ऋषि कहते हैं—

—जो उपासक सर्वव्यापी परमेश्वर का इस तीन मात्रा वाले ओम् अक्षर के द्वारा ध्यान करे वह ब्रह्म को पाता है।

'मुण्डकोपनिषद्' में भी यही कहा है—

ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्। २। २। ६॥

—ओम् द्वारा परमात्मा का ध्यान करो।

इसी प्रकार सारे शास्त्र, स्मृतियाँ तथा ग्रन्थ परमात्मा के इस निज तथा निर्विकारी नाम ओम् की महिमा बतलाते हैं, और आधुनिक काल के महापुरुषों ने भी इसी का महत्त्व प्रकट किया है। महर्षि स्वामी दयानन्द जी सरस्वती ने 'सत्यार्थ-प्रकाश', 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका', 'पंचमहायज्ञ-विधि' में ओम् ही को परमेश्वर के सब नामों में उत्तम नाम बतलाया है। भगवान् दयानन्द लिखते हैं—

एतच्च सर्वोत्तमं प्रसिद्धतमं परब्रह्मणो नामास्ति। ऐतेनैकेनैव नाम्ना परमेश्वरस्यानेकानि नामान्यागच्छन्तीति वेद्यम्॥

—ओम् अक्षर परमेश्वर के सब नामों से उत्तम प्रसिद्ध नाम है, जिसमें सब नामों के अर्थ आ जाते हैं।

गुरु नानकदेव जी ने भी ओंकार जपने का आदेश दिया है—

ओंकार ब्रह्म उत्पत्ति, ओंकार किया जिन चित्त।
ओंकार सैल जुग भए, ओंकार वेद निरमए।
ओंकार शब्द जप रे, ओंकार गुर मुख तेरे।
ओम् अखर सुनहु विचार, ओम् अखर त्रिभुवन सार।
प्रणवों आदि एक ओंकारा, जलथल महियल कियो पसारा।

ओम्-अर्थ-विचार—

ओम् अक्षर के अर्थों पर विचार करें तो इसमें वे सब अर्थ आ जाते है जो परमात्मा के गुणों में आते हैं। परमात्मा सृष्टि-कर्त्ता, रक्षा-कर्त्ता, संहार-कर्त्ता है। ओम् के तीन विभागों=अकार+उकार+मकार से यही प्रकट होता है—

अ=विराट्—नाना प्रकार से जगत् को प्रकाशित करता है। अ से अग्नि, विश्व आदि भी अर्थ किये जाते हैं। इसके अर्थ सत् भी हैं।

उ=हिरण्यगर्भ, वायु तैजस, चित्। सारी तेज-प्रधान वस्तुओं का ठिकाना या आधार होने से यह हिरण्यगर्भ है। अनन्त बलवाला और सारे जगत् को जानने तथा धारण करने से वह वायु है। सूर्यादि का प्रकाश होने से वह तैजस है।

म्=ईश, प्राज्ञ, आदित्य, आनन्द। जैसे परमात्मा के गुण अनन्त है वैसे ओम् के अर्थ अनेक हैं। भक्त और उपासक की जो भावनाएँ और कामनाएं हो सकती हैं, उन सबको पूर्ण करने की शक्ति ओम् के अर्थों में निहित है।

संक्षेप में ओम् के अर्थ ये हुए—सर्वरक्षक, सर्वव्यापक, सर्वगति-दाता, सर्वज्ञ, प्रकाशक, पाप-विनाशक, दाता, भगवान्, तृप्तिकारक, शक्तिमान्, न्यायकारी, श्रोता, वृद्धि-पुष्टि-सुगन्ध देनेवाला, सत्, चित्, आनन्द इत्यादि।

'गोपथ ब्राह्मण' में बतलाया है—

आप् धातुरवतिमप्येके रूपसामान्यार्थसामान्यान्नेदीयस्तस्मादापेरोङ्कारः सर्वमाप्नोतीत्यर्थः॥ पू० भा० प्र० १, ब्रा० २६॥

आप्लृ व्याप्ती, अव रक्षणे—इन दोनों धातुओं के रूप ने सामान्य **कथन** किया है, इससे अर्थ सामान्य है। आप्लृ धातु से ओंकार सर्व-व्यापी है तथा संसार-सागर से रक्षा करता है, इससे ओम् नाम हुआ।

ओम्-जप का विधान महर्षि दयानन्द ने भी किया है, क्योंकि ओम् शब्द से बढ़कर और कोई ऐसा शब्द नहीं जो उपासक की शुभ कामनाओं को पूर्ण करनेवाला हो। इतना प्यारा, इतना मधुर, इतना सरल और इतना गम्भीर है यह ओम् शब्द कि इसी को अपने लोक-परलोक का सहारा बनाया जा सकता है। 'योगदर्शन' में आत्मदर्शन के साधन वृत्ति-निरोध का सबसे सुगम साधन ओम्-जप ही बतलाया है क्योंकि ईश्वर और ओम् का वाच्य-वाचक-सम्बन्ध है। वाच्य=ईश्वर, वाचक=ओम्। जिस अर्थ का बोधक जो शब्द होता है, वह शब्द उस अर्थ का वाचक कहलाता है, और जिस वाचक शब्द से जिस अर्थ का बोध होता है वह अर्थ उस शब्द का वाच्य कहलाता है। ओम् तथा ईश्वर में यही नित्य सम्बन्ध है। ओम् शब्द आते ही ईश्वर का ध्यान होने लगता है। इसलिए सारे शास्त्रों ने 'ओम्' नाम ही से ईश्वर-उपासना का विधान किया है। उपनिषद् में कितना सुन्दर आदेश है—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्॥

—अपनी देह (अन्तःकरण) को अधरारणि[1] और ओम् को उत्तरा-रणि बनाकर, ध्यान-रूपी मंथन-दण्ड की रगड़ के बार-बार करने से छिपी हुई अग्नि के सदृश उस परमज्योति को देख।

ओम्-उपासना की विधि यह है—

(यदि केवल ओम् ही के द्वारा परमधाम को पहुंचना हो तो) पहले ऊँची ध्वनि से ओम् का उच्चारण किया जाता है, परन्तु यह ऊंचा

१. यज्ञ के लिए अग्नि प्रचण्ड करने के वास्ते चन्दन की दो लकड़ियों को रगड़ा जाता है। नीचे जो लकड़ी रखी जाती है उसे अधरारणि कहा जाता है और जो दण्डवत् ऊपर रखी जाती है उसे उत्तरारणि कहते हैं।

उच्चारण मिठास तथा मस्ती से भरा हो, और ओम्-ध्वनि ध्वनित करते हुए यह यत्न करना चाहिए कि वह ध्वनि नाभि से उठकर कण्ठ में आती प्रतीत हो और समझना यह चाहिए कि सारा ही विश्व ओम् उच्चारण कर रहा है; केवल मेरे ही स्थूल शरीर से ओम् की ध्वनि नहीं निकल रही है, सारे विश्व के अन्दर से निकलकर परमात्मा के इस विराट् रूप को पुकार रही है; गोया सारा विश्व उपासक बनकर प्रभु के विराट् रूप को उपास्य जानकर उसी की उपासना में निमग्न है। ऐसी उपासना को एक मात्रावाले ओम् की उपासना कहा जाता है, इसमें स्थूल का अभिमान बना रहता है।

अब दो मात्राओंवाले ओम् का जप शुरू कीजिये—स्थूल शरीर के अन्तर्मुख होने का यत्न कीजिये, और ध्यान हृदय-प्रदेश अथवा भृकुटि में जमा दीजिये। धीरे-धीरे यह अभ्यास जब बढ़ाया जाता है तो ध्यान की पहली परिपक्व-अवस्था प्राप्त होने पर न भृकुटि सामने रहती है न हृदय; अपितु उपासक का प्रवेश सूक्ष्म शरीर में हो जाता है। अब उपासक मानसिक जप कर रहा है। मानसिक जप दो मात्राओंवाले ओम् की उपासना है। यहाँ सूक्ष्म शरीर उपासक है, जिसे तैजस भी कहते हैं, और जिसकी उपासना की जा रही है, उसे हिरण्यगर्भ कहा जाता है।

इससे आगे ध्यान की दूसरी परिपक्व-अवस्था लानी होती है। तब मानसिक जप और भी सूक्ष्म हो जाता है, इतना सूक्ष्म कि जप की बात ही नहीं रहती और केवल ओम् की एक दिव्य-निर्मल ध्वनि या ओम् का ध्यान-सा रह जाता है। यह अकार, उकार, मकार तीनों विभागोंवाले ओम् की उपासना है। इसमें सूक्ष्म शरीर का भी अभिमान नहीं रहता; कारण शरीर (सूक्ष्म मूल प्रकृति ही का नाम है) में उपासक का प्रवेश हो जाता है। तब यही कारण शरीर उपासक है जिसे प्राज्ञ कहा जाता है, और उपास्य ईश्वर है। अभी एक सीढ़ी और आगे है, जहाँ अमात्र विराम रह जाता है और शुभ परमात्मप्राप्ति का अवसर मिलता है। इसका वर्णन पुस्तक का विषय नहीं। अनुभव

ने यह बतलाया है कि वास्तविक जप तो वह है, जब उपासक को स्वयं जप करने का यत्न न करना पड़े, अपितु एक स्वभाव-सा हो जाए। वाणी के प्रयोग की आवश्यकता ही न रहे, हृदय में ही ओम् की ध्वनि सुनाई देती रहे। हाँ, कभी-कभी ओम् नाम की ध्वनि का नशा जब अधिक बढ़ने लगता है तो स्थूल शरीर की वाणी भी सहसा ओम्-ओम्-ओम् पुकार उठती है। वास्तविक तथ्य यह है कि प्रणव या ओम् मुख द्वारा उच्चारण करने की वस्तु नहीं। हाँ, मानसिक जप का ही इतना अभ्यास बढ़ा लेना चाहिए कि अन्तःकरण ही यह जप करता रहे और वहीं उसकी ध्वनि सुनाई देती रहे और वहीं उसका ध्यान होता रहे। उसी अन्तःकरण में ओम् की ध्वनि तथा ध्यान का वेग जब बढ़े तो उसके परिणामस्वरूप मुख द्वारा भी ओम् की रट अपने-आप लगने लगती है। ओम् के ध्यान से मन बाँधा जाता है, मन की चंचलता मिटने लगती है, और अद्भुत तथा दिव्य स्वाद आने लगता है। 'योगदर्शन' में इसीलिए कहा है—

तज्जपस्तदर्थभावनम्।

—उस प्रणव=ओम् का जप और उसके अर्थभूत ईश्वर का (भावनम्) पुनः-पुनः चिन्तन करना चाहिए।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ईश्वर के नाम ओंकार का वर्णन करते हुए लिखा है—'जो ईश्वर का ओंकार नाम है, सो पिता-पुत्र के सम्बन्ध के समान है, और यह नाम ईश्वर को छोड़कर दूसरे अर्थ का वाची नहीं हो सकता। ईश्वर के जितने नाम हैं, उनमें से ओंकार सबसे उत्तम नाम है। इसलिए इस नाम का जप अर्थात् स्मरण, और उसी का अर्थ-विचार सदा करना चाहिए कि जिससे उपासक का मन एकाग्रता, प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर स्थिर हो जिससे उसके हृदय में प्रकाश और परमेश्वर की प्रेमभक्ति सदा बढ़ती रहे।"

निश्चित रूप से ओम् का मानसिक जप हृदय में ज्योति प्रकट करता है, परन्तु यह जप होंठ या कण्ठ से नहीं, हृदय से हो। हृदय-

द्वारा जप के सम्बन्ध में यह कहा है—

जबहि नाम हिरदय धर्‌यो, भयो पाप को नास।
जैसे चिनगी आग की, पड़ी पुराने घास॥

ओम् शब्द की व्याख्या करते हुए और ओम् की महिमा का गायन करते हुए चित्त भरता नहीं। जी चाहता है कि यह व्याख्या होती ही रहे और इसका गुण-गान होता ही रहे।

तीन व्याहृतियां—

गायत्री-मन्त्र-उच्चारण से पूर्व ओम् का प्रयोग आवश्यक है। इसके आगे तीन व्याहृतियां हैं—भूः भुवः स्वः। जिस प्रकार ओम् के तीन विभाग सत्-चित्-आनन्द को प्रकट करते हैं, ऐसे ही भूर्भुवः स्वः भी सत्-चित्-आनन्द का वर्णन करते हैं। ये तीनों लोकों की ओर भी संकेत करते हैं। व्याहृति का अर्थ है—विशेष रूप से आहृति अर्थात् सर्व विराट् का बोध (प्रकाश) करनेवाली। परमात्मा का विराट् रूप तीनों लोकों में दृष्टिगोचर होता है। इस दृश्यमान संसार को देखते हुए उसकी अद्‌भुत महिमा प्रकट होती है, और यह अनुभव होने लगता है कि उसी के दर्शन हो रहे हैं—

दर दीवार दर्शन भये, जित देखूं तित तोय।
कांकर पाथर ठीकरी, भये आरसी सोय॥

और वे भूर्भुवः स्वः व्याहृतियां विशेष रूप से प्रभु-महिमा प्रकट करती हैं।

भूः—प्राणाधार, स्वयंभू, सत्, भूत-भविष्य-वर्तमान में सदा विद्यमान भगवान् का एक नाम है। गायत्री का उपासक जब ओम् शब्द के महान् अर्थों पर विचार करता हुआ, उसके गुणों का गान करता हुआ तथा ओम्-जप में सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अवस्था तक जा पहुँचा, और उसने साक्षात् अनुभव कर लिया कि यह ओम् ही रक्षक है, तब इस रक्षक की गोदी में बैठा वह देखने लगता है कि ये तीनों लोक भी तो उसी के सहारे हैं। सारा संसार प्राणमय है, प्राण से रिक्त कोई भी स्थान नहीं, और इस प्राण का स्रोत भगवान् ही है। क्या कोई प्राण ले सकता, कोई देख या सुन सकता यदि वह प्राणाधार परमात्मा प्राण को न फैलाता?

भूः शब्द के अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द 'पञ्चमहायज्ञविधि' में लिखते हैं—प्राणयति जीवयति सर्वान् प्राणिनः सः प्राणः प्राणादपि प्रिय-स्वरूपो वा स चेश्वर एव—जो सब प्राणियों का जीवदाता है, और प्राण से भी प्यारा है, वह परमेश्वर भूः नामक है।[1]

'बृहदारण्यकोपनिषद्' (४।४।१८) में ब्रह्म को 'प्राणस्य प्राणः' —प्राण का प्राण कहा है।

केन० १।२ में कहा—'स उ प्राणस्य प्राणः' वह प्राण का प्राण है।

'छान्दोग्योपनिषद्' में यह प्रसंग आता है कि एक यज्ञ में जब प्रस्तोता ने उपस्ति चाक्रायण से पूछा—भगवन्! प्रस्ताव का देवता कौन है? तो उत्तर मिला—

'प्राण' इति होवाच। सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति, प्राणमभ्युज्जिहते। अ० १।११।५॥

—वह स्तुति का देवता 'प्राण' है क्योंकि ये सारे भूत (प्राणी) उसी महाप्राण में लीन होते हैं और प्राण से बाहर निकलते हैं।

यहाँ जिस प्राण का वर्णन हो रहा है, प्राणाधार भूः परमात्मा ही तो है। ब्रह्मसूत्र में यही कहा है—

"अतएव प्राणः।" १।१।३३॥

—इसीलिए यह परमात्मा प्राण है।

वेद भगवान् स्वयं आदेश देते हैं—

"देवानां समवर्ततासुरेकः।" ऋ० १०।१२१।७॥

—वह सारे देवताओं का एक प्राण है।

"य आत्मदा बलदाः।" १।१२१।२॥

—जो प्राण को देनेवाला और बल का देनेवाला है।

---

१. तैति० उप० में भूः से प्राण, भुवः से अपान और स्वः से व्यान लिया है। जीवनदाता होने से प्राण, बचानेवाला होने से अपान, चेष्टा करनेवाला होने से व्यान—ये इनके यौगिक अर्थ हैं।

ग्रौर 'ग्रथर्ववेद' के इस मन्त्र का पाठ कीजिए—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ।। ११।४।१।।

—प्राण (परमात्मा) को नमस्कार है जिसके यह सब वश में है; जो ग्रपनी सत्ता के साथ ही सबका स्वामी है; जिसपर सब-कुछ सहारा रखता है।

वेद में परमात्मा का नाम 'मरुत्' भी ग्राया है, जिसके ग्रर्थ प्राण हैं। प्राण को ही ज्येष्ठ ग्रौर श्रेष्ठ कहा गया है। बृहदा० उ० में एक सुन्दर ग्रलंकार इन्द्रियों ग्रौर प्राण के सम्बन्ध में देकर सिद्ध किया है कि प्राण ही सर्वोत्तम है; ये इन्द्रियाँ प्राण के बिना कुछ भी नहीं। ग्रौर यह व्यष्टि प्राण भी कुछ नहीं, यदि समष्टि प्राण इसे गति न दे। वास्तव में सारी सृष्टि का प्राणाधार, जीवनदाता परमात्मा ही है, ग्रौर गायत्री-मन्त्र की पहली व्याहृति में इसीलिए उस देवों के देव, परमात्मा को 'भूः' शब्द से पुकारा गया है।

भुवः—गायत्री-मन्त्र की दूसरी व्याहृति भुवः है। 'यजुर्वेद' ३६।६ में 'भूर्भुवः स्वः' ये तीन व्याहृतियाँ गायत्री के साथ ग्राई हैं, गोया इनको मन्त्र ही का एक भाग बतला दिया है। भुवः के ग्रर्थ हैं—दुःखों से बचानेवाला, चित्त, ग्रपान।

यो मुमुक्षूणां मुक्तानां स्वसेवकानां धर्मात्मनां सर्वं दुःखमपानयति दूरीकरोति सोऽपानो दयालुरीश्वरोऽस्ति।[1]

—क्योंकि वह मुक्ति की इच्छा करनेवालों, मुक्तों ग्रौर ग्रपने सेवक धर्मात्माग्रों को सब दुःखों से ग्रलग करके सर्वदा सुख में रखता है, इसलिए दयालु परमेश्वर भुवः—ग्रपान नामवाला है।

—'तैत्तिरीयारण्यक' मे भुवः शब्द का ग्रर्थ ग्रपान बतलाया है। भुवः शब्द का उच्चारण करते हुए मन में यह भावना करनी है कि मैं दुःखनाशक भगवान् के दरबार में उपस्थित हूँ ग्रौर वे प्रभु मेरे दुःख दूर कर रहे हैं।

१. तैत्तिरीयोपनिषद्, परीक्षाध्याये, मनु० ५ मं० ३ में भी ऐसा ही लिखा है।

दुःख क्या है ?

परन्तु ग्राग्रो पहले यह तो पता ले लें कि दुःख कहते किसे हैं ग्रौर ये ग्राते क्यों हैं ?

दुःख कहते हैं इष्ट के वियोग को ग्रौर ग्रनिष्ट की प्राप्ति को। ग्रौर भी ग्रधिक स्पष्ट करना चाहिए कि प्रतिकूलता ही दुःख है। ग्रौर ये दुःख भी कितने ही प्रकारके हैं। कुछ दुःख तो ऐसे हैं जिनपर हमारा कोई वश नहीं, परन्तु कुछ दुःख ऐसे हैं जो हम स्वयं पैदा कर लेते हैं ग्रौर जिनपर हमारा ग्रधिकार है; यदि चाहें तो उन्हें स्वयं दूर कर सकते हैं। इस प्रकार के दुःखों को दूर करने के लिए हम भगवान् से याचना क्यों करें ?

१. ऐसे दुःखों में पहली प्रकार के वे दुःख हैं जो हम ग्रपने भ्रम से घड़ लेते हैं; जैसे भूत-प्रेत इत्यादि से भयभीत होते रहना ग्रौर केवल काल्पनिक चिन्ताग्रों द्वारा ग्रपने तन को दुःखित रखना।

२. दूसरी प्रकार के दुःख ऐसी इच्छाएँ हैं जो पूर्ण न हो सकें—ग्रपनी शक्ति-सामर्थ्य, परिस्थिति से बहुत बढ़-चढ़कर 'शेखचिल्ली' की तरह इच्छाएँ खड़ी कर लेना, ग्रौर उनके पूरा न होने पर चिन्तित होकर रुदन करना।

३. तीसरी प्रकार के दुःख—झूठे ग्रभिमान में ग्राकर ग्रपने लिए नाना कष्ट सहेज लेना।

४. चौथी प्रकार के दुःख—सृष्टि-नियमों के विरुद्ध, वेद-ग्राज्ञा के विरुद्ध चलकर दुःख पैदा कर लेना। उदाहरण के लिए ग्राधुनिक काल के गृहस्थ-ग्राश्रम को देखिये जो सबसे ग्रधिक दुःखी दिखलाई देता है। ये सारे दुःख मानव के ग्रपने ही बनाए हुए हैं।

(क) वेद ने तो यह ग्राज्ञा दे रखी है कि किन लोगों को गृहाश्रम में प्रवेश का ग्रधिकार है—

ग्रोम् गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रतऽ एमसि।
ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ।।
यजु० ३।४१ ।।

गृहाश्रम में प्रवेश करनेवाला युवक कहता है—'हे गृहस्थो ! मत डरो, मत कांपो, मैं पराक्रम को धारण करनेवालों के निकट आया हूँ, तो स्वयं पराक्रम को धारण करके, उदार हृदय, गम्भीर मेधा से युक्त होकर हर्ष-भरे मन के साथ तुम गृहस्थों के निकट आता हूँ।

इस प्रभु-आज्ञा के अनुसार गृहाश्रम में प्रवेश करनेवालों में ये गुण होने अनिवार्य हैं—

(१) शरीर में पराक्रम हो। (२) हृदय में उदारता हो। (३) मेधा गम्भीर हो। (४) मन हर्ष से भरा हो।

इन चार गुणों के होने पर लक्ष्मी अपने-आप पग चूमने लगती है। परन्तु आज इन चार गुणों को न देखकर केवल धन और लौकिक माया ही को प्रधानता दी जाती है, और परिणाम यह है कि जिन गुणों से गृहस्थ को स्वर्गधाम बनाना था, उन गुणों के अभाव अथवा कम होने के कारण वह आश्रम आज नरक कहा जाने लगा है।

(ख) वेद ने कहा था—ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ॥ (अथर्व० ११।१६)—"देवता ब्रह्मचर्य और तप से मृत्यु को सदा मार हटाते हैं।"

परन्तु इस ब्रह्मचर्य के सिद्धान्त को भूलकर मानव ने मृत्यु को तो क्या मार हटाना था, छोटे-मोटे रोगों से तंग आकर और घर के शत-प्रतिशत रोगियों को देखकर गृहस्थ को दुःखों का घर कहना प्रारम्भ कर दिया। क्यों जी, ये सारे दुःख मानव ने स्वयं पैदा कर रखे हैं या नहीं ?

(ग) वेद ने तो यह आज्ञा दी है कि जब वधू घर में आए तो सास उससे कहे—"तुम महारानी (सम्राज्ञी) बनकर रहो।[१] गौ जिस प्रकार सजाए बछड़े को प्यार करती है, ऐसे तुम घर में एक-दूसरे को प्यार करो।[२] सदा मीठी वाणी बोलो, जो हितकर हो।[३] गृहाश्रम की गाड़ी इकट्ठे मिलकर खींचते हुए[४] एक-दूसरे के लिए सुन्दर प्रिय वचन

(१) ऋ० १०।८५।४६; (२) अथर्व० ३।३०।१; (३) अथर्व० ३।३०।२; (४) अथर्व० ३।३०।५।

बोलते हुए प्रभु की ओर चलो।" इन सारी आज्ञाओं को भुलाकर मानव दुःखी हो उठा है।

(घ) कई सामाजिक रूढ़ियों के बन्धन तथा रिवाज ऐसे हैं जो मानव को दुःखी कर देते हैं, परन्तु नाक कट जाने के भ्रम में पड़ा वह इन्हें करता है और दुःख भोगता है। ये सभी दुःख मानव की अपनी ही दुनिया है। यदि मानव की हार्दिक इच्छा हो तो वह इनसे छुटकारा पा सकता है। इनके दूर करने के लिए परमात्मा को पुकारने से पूर्व स्वयं यत्न करना होगा।

५. पूर्वोक्त चार प्रकार के दुःखों के अतिरिक्त एक श्रेणी ऐसे दुःखों की भी है जिसमें मानव अपने-आपको विवश पाता है—जैसे भूकम्प का होना, या वायु-जल का प्रतिकूल हो जाना, या राजनैतिक परिस्थितियों का अत्यन्त बिगड़ जाना, अतिवृष्टि, अनावृष्टि इत्यादि।

यह तो साधारण बुद्धि द्वारा देख लिया गया कि पांच में से चार दुःख ऐसे हैं जो मानव के अपने बनाये हुए हैं। अब थोड़ा दार्शनिक बुद्धि द्वारा दुःख की विवेचना कीजिये, ताकि यह तत्त्व ज्ञात हो सके कि दुःख है क्या ? हमारे जितने दर्शन-ग्रन्थ हैं, इनकी रचना हुई ही इसलिए थी कि हर प्रकार के दुःखों का अन्त करने का उपाय मिले। आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक दुःखों से छूटने की तीव्र इच्छा ने इन दर्शन-ग्रन्थों के ऋषियों को बाधित किया कि वे तीनों प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति का साधन खोज निकालें, क्योंकि मानव-समाज दुःखों से पीड़ित दिखाई देता है। महर्षि दयानन्द भी तो मृत्यु के दुःख को जीतने ही के लिए घर से निकले और घोर तप तथा ज्ञान से वह साधन पा गए। बुद्ध भगवान् भी तो दुनिया के दुःखों को देखकर ही निर्वाण-प्राप्ति के लिए गया में जा बैठे। 'सांख्य-दर्शन' के ऋषि ने भी छठे अध्याय के सातवें मन्त्र में लिखा है—"कुत्रापि कोऽपि सुखीति ?"—क्या कहीं कोई भी सुखी है ?

और 'धम्मपद गाथा' १४६ में यह कहा है—

को नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति ॥

—जब यह दुनिया नित्य जलते हुए घर के समान है, तब यहां हँसी क्या हो सकती है और आनन्द क्या मनाया जा सकता है? परन्तु यह तो सर्वथा निराशावाद (Pessimism) है कि दुनिया नित्य जलते घर के समान है। इस 'जलते घर' में ही ऐसे स्थान और समय हैं, जहाँ सुख के स्रोत बहते हैं। दुःखों का निर्माण तो मानव आप कर लेता है। सुख भोगते हुए उसे सुख से भी ग्लानि होने लगती है, और मनःसन्तोष के लिए वह स्वयं दुःख का आवाहन कर लेता है। फिर भी दुःख है तो सही, चाहे मानव की सृष्टि है अथवा अपने-आप है। इन दुःखों से छुटकारा पाने के लिए ही संसारी लोगों की भाग-दौड़ जारी है। नाना विचारधाराएँ जो चलती हैं, उनका भाव भी होता तो यही है कि दुःख दूर किया जाये, चाहे अल्पज्ञता के कारण वे दुःख दूर होने के स्थान पर दुःखों में वृद्धि ही कर दें।

दुःखों के जो तीन विभाग किये गए हैं, वे भी इसीलिए ताकि दुःखों को भली-भाँति जानकर उनका अन्त किया जा सके। आध्यात्मिक दुःख—काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष आदि जन्य मानस-ताप और रोगजन्य शारीरिक ताप, कष्ट, पीड़ा। आधिभौतिक—सर्प, बिच्छू, सिंह, क्रूर स्वभाव के मनुष्य आदि भूतों से आए दुःख। आधिदैविक—विजली, आग, तीव्र वायु, अत्यन्त मन्द वायु, अनावृष्टि आदि दुःख तथा आपत्ति।

इन सब प्रकार के दुःखों को दूर करने का उपाय क्या है? कुछ निराशावादियों का तो यह कहना है कि दुनिया है ही दुःखमय। तुम दुःख दूर करोगे कैसे? परन्तु वेद ने तो संसार को दुःखमय नहीं बतलाया। हाँ, इसे प्रयोगशाला, तपोभूमि, श्रम-गृह तो अवश्य कहा है। साथ ही यह आज्ञा दी है कि यह सृष्टि मानव के भोग और अपवर्ग के लिए बनाई गई है। अपना कर्त्तव्य पूरा करता हुआ 'मदस्व' =आनन्द लूट। नाचने (भगवान्-कीर्तन) तथा हँसने के लिए मानव यहाँ आया है, शोक-सागर में डूबे रहने के लिए नहीं।

तब इन दुःखों से बचें कैसे? इसका दार्शनिक उत्तर तो यह है

कि दुःखों को दुःख ही न समझा जाये। दुःखों में दुःख मानना ही दुःख है। दुःखों को तप समझकर प्रसन्नतापूर्वक धैर्य, साहस तथा वीरता से सहन करना मानवता का परिचय देना है। मानव दुनिया को सुख-भोग का साधन ही क्यों समझे? यह क्यों न समझे कि दुनिया में मानव श्रम करने, तप करने और दुःखों की अत्यन्त-निवृत्ति के लिए आया है? इस स्थान पर तो बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करते हुए दुःखों से पृथक् होने का यत्न करना है और जब ज्ञान द्वारा यह स्पष्ट हो गया कि द्रष्टा और दृश्य का संयोग ही दुःख का हेतु है, तब यत्न यही होगा कि इस दृश्यमान विकृत हुई प्रकृति से अपना सम्पर्क तोड़कर सुखसागर परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ लिया जाये। यह मानव के अपने अधिकार में है कि वह दुःख के मूल कारण—प्रकृति-संयोग को अपना ले या सुख के मूल परमात्म-तत्त्व से सम्पर्क उत्पन्न कर ले। भुवः परमात्मा के साथ अपना सम्बन्ध जितना गहरा किया जाएगा, सुख की मात्रा उतनी ही बढ़ती जाएगी; परन्तु यह सर्वदा ध्यान रखना कि जब साधक चाहता है कि भगवान् उसके दुःखों को दूर करे तो साधक भी तो अपनी सामर्थ्य-अनुसार दुःखियों के दुःख दूर करने का यत्न करे! यह प्रार्थना तभी सार्थक तथा सफल होगी।

स्वः—तीसरी व्याहृति स्वः है। स्वः शब्द के अर्थ महर्षि दयानन्द ने 'पञ्चमहायज्ञविधि' में ये लिखे हैं—

"यदभिव्याप्य ध्यानयति चेष्टयति प्राणादिसकलं जगत् स व्यानः सर्वाधिष्ठाने बृहद् ब्रह्मेति। खल्वयं स्वः शब्दार्थोऽस्तीति मन्तव्यम्॥"

—वह सब जगत् में व्यापक होकर सबको नियम में रखता है, और सबका ठहरने का स्थान और सुखस्वरूप है, इससे परमेश्वर का नाम 'स्वः' है।

तैत्तिरीय आ० शिक्षाध्याय अनु० ५।३ में बतलाया है—

"सुवरिति व्यानः—व्यानयति चेष्टयति प्राणादिसकलं जगदभिव्याप्य स व्यानः सर्वाधिष्ठाने बृहद् ब्रह्म।"

—स्वः वह व्यान वायु है, जो जगत् में व्यापक होकर प्राणादि सर्व की चेष्टा करता है। वह व्यान वायु सबका अधिष्ठान व्यापक ब्रह्म है।

संक्षेप में स्वः का अर्थ हुआ—सुखदाता, आनन्ददाता, व्यान, आनन्द ब्रह्म।

मानव केवल इसी से सन्तुष्ट नहीं हो जाता कि उसके दुःख दूर हो गए, अपितु वह यह भी चाहता है कि उसे सुख मिले, और सुख चाहता कौन नहीं! दुनिया के लोगों की सारी भाग-दौड़ है ही सुख-आनन्द के लिए। परन्तु सुख तथा आनन्द में एक बड़ा अन्तर है। सुख तो क्षणिक है और आनन्द वह सुख है जो निरन्तर बना रहे। मानव आनन्द ही में सन्तोष पाता है, और ऐसा सुख परमात्मा ही के पास है। परमात्मा सत्-चित्-आनन्द है। जीवात्मा सत्-चित् है। आनन्द ही की इसमें कमी है। उसी कमी को पूरा करने के लिए साधक भगवान् को 'स्व' शब्द से पुकार रहा है कि हे सुखदाता! आनन्द के भण्डार! मुझे भी अपने आनन्द का अमृत पिला दे। उस आनन्द-सागर के निकट पहुँचे बिना न दुःख का नाश होता है, और न सुख की प्राप्ति होती है।

'श्वेताश्वतरोपनिषद्' के ऋषि का अनुभव सुनिये—

> **यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।**
> **तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥ ६। २०॥**

—जब लोग चर्म की तरह आकाश को लपेट सकेंगे, तब परमात्मा को जाने बिना दुःख का अन्त होगा, अर्थात् जैसे आकाश को लपेटना असम्भव है इसी प्रकार परमात्मा की शरण लिये बिना दुःख का अन्त होना असम्भव है; और जब तक दुःख दूर न हो, सुख कैसे प्राप्त हो?

'तैत्तिरीयोपनिषद्' में स्वः का भावार्थ लिखा है। महर्षि दयानन्द ने भी स्वः की व्याख्या की है और इसके यौगिक अर्थ होते हैं—'चेष्टा करनेवाला, बाहर फेंकनेवाला'।[1] कौन-सी चेष्टा परमात्मा कराना चाहता है? यही कि सब आनन्द को प्राप्त हों। इसलिए यह सृष्टि

[1] दुःख के कारणों को बाहर फेंकनेवाला।

रची गई, ताकि जीव को अवसर मिले कि वह कर्मों के भोग भोगता हुआ परमानन्द को पा ले। यह दुनिया न तो दुःख-सागर है, न ही सुख-सागर है। यह तो परमात्मा की अपार कृपा का एक स्पष्ट उदाहरण है। परमात्मा अपनी दयालुता से जीव को ऐसे अवसर सर्वदा देता रहता है ताकि वह आनन्द-प्राप्ति के लिए यत्न कर सके। उसी चेष्टानुसार साधक स्थायी सुख के लिए स्वः—सुखस्वरूप परमात्मा को पुकारता है। परन्तु साधक पहले यह तो देख ले कि क्या मैं स्वयं भी किसी दुःखी को सुखी बनाने का साधन बन रहा हूँ या नहीं?

'ओम् भूर्भुवः स्वः' का अर्थ संक्षेप में यह हुआ—

—हे रक्षक, प्राणाधार, दुःखनाशक, सुखदाता, सत्-चित्-आनन्द भगवान्!

इन व्याहृतियों के पश्चात् गायत्री-मन्त्र का आरम्भ होता है। गायत्री-मन्त्र के पहले तथा दूसरे पाद के चार शब्द बड़े महत्त्व के हैं—(१) सवितुः, (२) वरेण्यम्, (३) भर्गः, और (४) देवस्य।

सवितुः—

सविता शब्द बड़ा भारी महत्त्वपूर्ण शब्द है। चारों वेदों में सहस्रों बार भिन्न-भिन्न रूप में आया है। 'निरुक्त' में सविता के सम्बन्ध में यह कहा है—

> **"सविता वै सर्वस्य प्रसविताः अग्निः सवितारमाह सर्वस्य प्रसवितारम्।"**
> **निरुक्ते दैवतकाण्डे, अ० ७ पा० खं० ६॥**

—निश्चय करके सविता ही सब सृष्टि को उत्पत्ति करनेवाला है। अग्नि को सविता कहते हैं। अग्नि ही सबको उत्पन्न करनेवाली है।

गोपथ ब्राह्मण पू० भा० प्र० १ ब्रा० ३३ में कहा है—

> **"चन्द्रमाः सविता प्राण एव सविता विद्युदेव सविता।"**

चन्द्रमा सविता है, प्राण भी सविता है, विद्युत् भी सविता है।

'मैत्र्युपनिषद्' ६।७ में कहा है—**"एष हि खल्वात्मा सविता"**—निश्चित रूप से यही सविता सब प्राणियों की आत्मा है।

इसी उपनिषद् (६ । ६५) में 'सर्जनात् सविता'—उत्पादक होने से सविता नाम लिखा हुआ है।

केवल पालन करने ही से नहीं, उत्पत्ति तथा प्रेरणा करने से भी ईश को सविता कहते हैं।[1]

असौ वै देवः सवितेति[2]—निश्चय करके यह देव (परमात्मा) सविता है।

तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यम्[3]—यह श्रेष्ठ सविता है, यह अविनाशी है।

संक्षेप में सविता के अर्थ हुए—जन्म देनेवाला, प्रेरणा करनेवाला, सब भूतों की रक्षा करनेवाला आत्मा। सविता परमात्मा की उस शक्ति का नाम है, जिसने सोई हुई प्रकृति को प्रेरणा की और प्रकृति ने नाना रूप मानव के कल्याण के लिए धारण कर लिये। सूर्य को भी सविता इसलिए कह दिया जाता है कि यह सोए हुए सांसारिक जीवों को जागरित अवस्था में लाकर पुरुषार्थ करने की प्रेरणा करता है। सविता सकल लोकों की उत्पत्ति, पालन तथा संहार का कारण है और बीज-रूप में पड़े हुए अनेक कारणों को अपने प्रकाश तथा गर्मी से वृक्ष-रूप देता है। महर्षि दयानन्द ने सविता की व्याख्या इस प्रकार की है—

(सवितुः) सुनोति सूयते सुवति वोत्पादयति सृजति सकल जगत् सा सर्वपिता सर्वेश्वरः सविता परमात्मा तस्य, सवितुः प्रसवे। (पंचमहायज्ञविधि)

—जो समस्त जगत् को उत्पन्न करता और सबका स्वामी है, वह सर्वपिता जगदीश्वर सविता परमात्मा है।

निस्सन्देह सविता सम्पूर्ण पदार्थों पर शासन करता है और जितने भी पदार्थ दृष्टिगोचर हो रहे हैं, इन सबका वही ईश्वर है। वही शुभ प्रेरणा करनेवाला है, वही सविता देव सब बुराइयों को हमसे दूर करके कल्याणकारी पदार्थ हमें देता है।

परमात्मा की महती शक्ति, सविता को पुकारते हुए साधक सविता-शक्ति को अपने अन्दर भी धारण करता है, ताकि वह परमात्मा के

१. याज्ञ० अ० ६ । ५५ । ५६ । २. शतपथ ब्राह्मण । ३. श्वेताश्वतर उप०।

इस गुण को किसी अंश में अपने में लाकर इससे कार्य भी ले सके। उपासक-साधक के लिए आवश्यक है कि वह अपने प्रियतम के कुछ गुणों को तो अपने आत्मा में ले आए।

परमात्मा की प्रेरणा करनेवाली सविता-शक्ति ने केवल आदि-सृष्टि ही में कार्य नहीं किया, यह शक्ति अब भी निरन्तर कार्य करने में लगी है, और मानव-हृदय में विराजमान सविता-शक्ति अच्छे कार्यों के लिए उत्साह, प्रसन्नता तथा आनन्द बढ़ाती है और बुरे कार्य करने-वालों में शंका, लज्जा, शोक उत्पन्न करती है।[1]

सविता-शक्ति द्वारा मानवी पुरुषार्थ—

मानव ने आदिसृष्टि ही से सविता-शक्ति द्वारा कार्य लिया, तभी भूमि के सारे स्थलों में वेद-विचार फैला। यदि आर्य ऋषि-मुनि और ब्राह्मण दूसरों को प्रेरणा न करते तो वैदिक धर्म का प्रचार कैसे होता?

आज से लगभग छह हज़ार वर्ष पूर्व आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य था।[2] अब भी कितने ही देशों में इसके चिह्न पाये जाते हैं। परन्तु जब से आर्यों ने सविता-शक्ति से कार्य लेना छोड़ा है, तब से यह सार्वभौम राज्य भी नष्ट हो गया है।

जिस प्रकार परमात्मा अपनी सविता-शक्ति द्वारा सुप्त प्रकृति को प्रेरणा करके सृष्टि को रच देता है, इसी प्रकार परमात्मा को 'सविता' नाम से पुकारनेवाले साधक का भी कर्त्तव्य हो जाता है कि वह दूसरे को प्रेरणा करके उसके अज्ञान की निद्रा को दूर करे, और सारी जनता को ईश्वर-भक्त, वेद-भक्त तथा जनता-जनार्दन का सेवक बनाने का यत्न करे। जब तक इस सविता-शक्ति द्वारा वेद-विचार का प्रसार तथा प्रचार होता रहा, तब तक सर्वत्र वैदिक विचार के अनुसार व्यवहार होता था, मानव का लोक सुधरता था और लौकिक वैभव के सारे पदार्थ सब व्यक्तियों को प्राप्त होते थे। परन्तु मानव इस सविता-शक्ति से परे हट गया। प्रेरणा-प्रचार की भावना जाती रही

१. 'सत्यार्थप्रकाश', सप्तम तथा नवम समुल्लास।
२. 'सत्यार्थप्रकाश', दशम तथा एकादश समुल्लास।

और धीरे-धीरे सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य का सुप्रबन्ध विनष्ट हो गया। अब भी आर्य लोग यदि दूसरों को प्रेरणा करने का निश्चय कर लें तो इस सविता (प्रेरणा) में इतना बल है कि एक बार पुनः उसी सार्वभौम राज्य के स्वामी बन सकते हैं।

उपासक-साधक जब गायत्री-मन्त्र का जप करने को उद्यत हुआ है, तो उसे इस जगज्जननी जगदम्बा के निकट पहुँचने के लिए अपने-आपको कुछ तो योग्य बनाना ही होगा और अपने पुरुषार्थ के साथ परमात्मा से भी यह याचना करनी होगी कि हे सविता देव ! आप ही सब प्राणियों की रक्षा करनेवाले हैं। प्रभो, तूने अपनी नन्ही-सी प्रेरणा से इतना महान् विशाल संसार रच दिया, तो क्या मेरी बुद्धि को प्रेरणा करने में आपको कोई श्रम करना पड़ेगा ? नहीं मेरी माँ, नहीं ! आपकी कृपा का एक कटाक्ष, आपकी एक ही दया-दृष्टि मेरा जीवन सुधार देगी। करो प्रेरणा ऐसी कि मेरे सारे कर्म मुझे तेरी ही ओर ले-जानेवाले हों।

वरेण्यम्—

वरने योग्य जो परमात्मा है उसे 'वरेण्यम्' कहा गया है। यदि किसी का वर्णन करना है, किसी का कीर्तन करना है, किसी का गुण-गान करना है, किसी को वरना है, किसी के आगे भेंट चढ़ानी है तो वह केवल परमात्मा ही है, वही प्रार्थनीय है। जन्म, मृत्यु, दुःखादि के नाश-निमित्त ध्यानपूर्वक उपासना करने योग्य यही सविता-देव है। यही परमात्मा आश्रय लेने योग्य है। यही है परमेश्वर देव जिसके सामने अपनी आत्मा की बलि-भेंट चढ़ानी है।

भगवान् दयानन्द ने वरेण्यम् के अर्थ ये लिखे हैं—यद्वरं वर्त्तुमर्हं-मतिश्रेष्ठं तद्वरेण्यम्—जो ग्रहण करने योग्य अत्यन्त श्रेष्ठ है, वह वरेण्यम् है।

वरेण्यम् का अर्थ सेवा करने योग्य भी है। सेवा का प्रयोजन यही है कि मैं जिसका सेवक हूँ, उसकी आज्ञा का पूरा पालन करूँ। वरेण्यम् कहकर जब साधक ने अपने-आपको सविता-देव परमात्मा के आगे भेंट

चढ़ा दिया, आत्म-समर्पण कर दिया तो अब आगे कुछ कहने-सुनने की आवश्यकता रहती नहीं। और वरेण्यम् शब्द के उच्चारण करने से भी यह स्पष्ट होता है कि वरेण्यम् कहते ही ओष्ठ बन्द हो जाते हैं अर्थात् अब बोलने का काम नहीं रहा।

अब तो उसी की आज्ञा-पालन में तन-मन लगेगा। जो कुछ पाया है यह है भी तो उसी का, और माँगा भी उसी से है। महर्षि दयानन्द ने 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में लिखा है—

"सबसे उत्तम मोक्ष-सुख से लेके अन्न-जलपर्यन्त सब पदार्थों की याचना मनुष्यों को केवल ईश्वर ही से करनी चाहिए।"

और फिर जो कुछ पाया है, वह सब ईश्वर ही के अर्पण कर देना है। महर्षि इसी प्रसंग में 'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्' तथा 'यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्' मन्त्र की व्याख्या में लिखते हैं—

"उसी परमेश्वर के अर्थ सब चीजें समर्पण कर देनी चाहिएँ···। सब मनुष्य अपनी आयु को ईश्वर की सेवा और आज्ञा-पालन में समर्पित करें; अर्थात् अपना प्राण भी ईश्वर के अर्थ अर्पण कर देवें।"

इससे आगे चक्षु, श्रोत, वाणी, मन, आत्मा, चारों वेदों के पढ़ने का पुरुषार्थ, ज्योति, सारा सुख, उत्तम कर्मों का फल, तीनों प्रकार के यज्ञ, इन सबकी गणना कर लिखा है कि "ये सब ईश्वर की प्रसन्नता के अर्थ समर्पित कर देना आवश्यक है।"

वरेण्यम् की भावना तो तभी पूर्ण होगी जब अपना सर्वस्व प्रभु-अर्पण करके उसी की आज्ञा-पालन में साधक तत्पर हो जाएगा। इसी का नाम ईश्वर-प्रणिधान है, इसी को शरणागति कहते हैं, और यही अनन्य भक्ति है।

भर्गः—

यह शब्द भी बड़े महत्त्व का है और साधक को बड़ा सन्तोष देने-वाला है, क्योंकि इस शब्द के अर्थ जहाँ 'शुद्ध, अनेकविध ऐश्वर्य के हैं, वहाँ पापों को भून देनेवाले, दहन करनेवाले और आनन्द देनेवाले के भी हैं।'

'**भर्गः**' परमात्मा का एक ऐसा गुण है जो परमात्मा के अतिरिक्त और किसी का गुण नहीं। यही गुण केवल ओ३म् परमात्मा ही की सम्पत्ति है। पापों का नाश करना है और आनन्द पाना है तो प्रभु ही की शरण में जाना होगा।

"यस्यच्छायाऽमृतं" । यजु० २५ । १३ ॥

—उसी का आश्रय लेनेवाले अमृत होते हैं, आनन्द पाते हैं। आनन्द वही प्राप्त करेगा जिसके पाप-दोष दग्ध हो गये हैं।

"यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः" । मुण्डक ३ । १ । ५ ॥

—जिसको वे यति जानते हैं जिनके दोष क्षीण हो गये हैं। दोष जहाँ सत्य, तप, सम्यक् ज्ञान तथा ब्रह्मचर्य से दूर होते हैं, वहाँ इनके साथ प्रभु-कृपा का होना भी आवश्यक है, और चूँकि वह भर्गवाला है, पापों के दहन करने की शक्ति एकमात्र उसी के पास है, इसलिए उसी प्रभु की कृपा के पात्र बनना होगा। संसार में जितनी भी मुख्य वस्तुएँ हैं, उन सबमें जो वस्तु शिरोमणि है, वह भर्ग कहलाती है।

भञ्ज् धातु आमर्दन अर्थ में और भुज् धातु भर्जन अर्थ में है। इन दोनों धातुओं से भजन करनेवालों[1], भक्ति करनेवालों के पापों के भर्जन का कारण होने से भर्ग नाम होता है। भर्ग तेज को भी कहते हैं। अविद्या के दोषों का नाश करनेवाला, ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप, भर्ग-शक्ति-वाला परमात्मा ही है।

'निरुक्त' में बतलाया है—

"भर्गस्तेजः प्रकाशः प्रकाशोत्तानम् ; यन्निरुपद्रवं निष्पापं निर्गुणं शुद्धं सकलदोषरहितं पक्वं परमार्थविज्ञानस्वरूपं तद् भर्गः।"

—भर्ग तेज है, प्रकाश है और प्रकाश ज्ञान-रूप है ; जो उपद्रव-रहित, निर्गुण, शुद्ध, सकल दोष-रहित, परिपक्व, परमार्थ-विज्ञानस्वरूप है, वही भर्ग है।

१. भक्ति केवल नाम-जपन का नाम नहीं। भक्ति का प्रयोजन है—नम्रता तथा तत्परता से प्रभु की आज्ञा का पालन।

'गोपथ ब्राह्मण' में भर्ग के सम्बन्ध में लिखा है—

"गायत्र्येव भर्गः तेजो वै गायत्री।"

—निश्चय करके गायत्री ही भर्ग है तथा तेज ही गायत्री है।

'मैत्र्युपनिषद् (६ । ७) में भर्ग के भ, र, ग के पृथक्-पृथक् प्रयोजन लिखे हैं—

भ=इन लोकों को प्रकाशित करता है।

र=इन भूतों को आनन्द देता है।

ग=जिस कारण आत्मा में यह सब प्रजा सुषुप्ति और प्रलय-काल में क्षय को प्राप्ति होती है और फिर जाग्रत् तथा सृष्टिकाल में उत्पन्न भी होती है—यही 'ग' अक्षर का अर्थ है।

महर्षि दयानन्द ने भर्गः के अर्थ निरुक्तानुसार ये लिखे हैं—

"यन्निरुपद्रवं निष्पापं निर्गुणं शुद्ध सकलदोषरहितं पक्वं परमार्थविज्ञान-स्वरूपं तद् भर्गः।"

कितना बड़ा महत्त्व इस भर्ग शब्द में निहित है! जब साधक गायत्री-मन्त्र के एक-एक शब्द के रहस्य को जानता हुआ तदनुकूल अपना आचरण बनाता हुआ 'वरेण्यम्' कहकर अपनी आत्मा की भेंट परमात्मा के आगे चढ़ा देता है तो भर्गः शक्तिवाले परमात्मा के अति-श्रेष्ठ, अतिशुद्ध, निर्मल, पापविनाशक तेज का ध्यान करने लगता है। साधक जानता है, समझता है कि मैं अब उस दिव्य धोबी के पास पहुँच गया हूँ जो अन्तःकरण के मैलों को धो डालने की पूरी सामर्थ्य रखता है। चित्त में विषय-वासनाओं का जो कूड़ा-कचरा पड़ा है, उसे भस्म कर देना भर्ग प्रभु का एक खेल ही है, अब चिन्ता काहे की? अब तो रोगी पहुँच गया है परम वैद्य के द्वार पर। अब भी मानसिक तथा आत्मिक और शारीरिक रोग क्या दूर न होंगे? होंगे क्यों नहीं! पूरी श्रद्धा-भक्ति से इसी परम वैद्य का चौखट पकड़े रहो। जिस प्रकार यह परम वैद्य अनुपान तथा पथ्य बतलाए, उसके अनुसार गायत्री-मन्त्र के औषध का प्रयोजन करो, निश्चितरूपेण रोग जाएगा और पूर्ण स्वास्थ्य मिलेगा।

यही भर्ग-शक्तिवाला परमात्मा ही अविनाशी वैद्य है। उसी के पास परम औषध है। उसी के पास दुःख, पाप, रोग, शोक, चिन्ता को दग्ध कर देने की सामर्थ्य है। हमें केवल इतना करना है कि इस परम वैद्य की आज्ञानुसार अपना जीवन बना लेना है। उसकी आज्ञा है कि (१) साधक का आहार, विचार, आचार तथा व्यवहार सत्य हो। सत्य प्रभु पर प्रबल निष्ठा हो। (२) तपोमय जीवन हो। (३) सम्यक् ज्ञान द्वारा बुद्धि ऋतम्भरा प्रज्ञा बन जाए, और (४) शरीर तथा मन ब्रह्मचर्यमय हो। तब गायत्री का जाप करके प्रभु-कृपा प्राप्त हो जाती है। साधक को भर्गवान् परमात्मा के पास पहुँचना है, जो तेजस्वरूप है, अतिश्रेष्ठ, अतिशुद्ध और निर्मल है। साधक यदि उतना नहीं तो कुछ अंश में तो पवित्र बने!

पवित्र-शुद्ध बनने का यत्न करना ही होगा। परन्तु यत्न करते-करते साधक जब थक जाता है और सफलता नहीं मिलती, और दयालु प्रभु भी जब देखते हैं कि अब और आगे बढ़ना इसकी सामर्थ्य में नहीं रहा, तब वह करुणा द्वारा साधक को पवित्र बना देते हैं।

परमात्मा अपनी कृपा साधक पर कैसे करते हैं, इसका बड़ा सुन्दर चित्र महर्षि दयानन्द ने 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' में चित्रित किया है। उपासना-विषय में 'यजुर्वेद' अध्याय ११ के मन्त्रों की व्याख्या करते हुए महर्षि लिखते हैं—

"योग को करनेवाले मनुष्य तत्त्व अर्थात् ब्रह्मज्ञान के लिए जब अपने मन को पहले परमेश्वर में युक्त करते हैं तब सविता परमेश्वर उनकी बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है। फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके यथावत् धारण करते हैं। पृथिवी के बीच में योगी का यही प्रसिद्ध लक्षण है।"

ऐसी कृपा होने पर ब्रह्मरन्ध्र अथवा हृदय-प्रदेश में एक दिव्य ज्योति प्रकट होती है। इसी ज्योति, प्रकाश या अतिश्रेष्ठ तेज का साधक को ध्यान करना है। पहले तो यह ज्योति धूम-सहित होती है। जब ध्यान अधिक परिपक्व होने लगता है तो ज्योति अधिक शुभ्र होती

चली जाती है। पूर्व की ज्योति भौतिक है। शनैः-शनैः जब ध्यान विवेक-ख्याति तक पहुँच जाता है, तब साधक आत्म-ज्योति के दर्शन पाता है। यह ज्योति उसी भर्ग की ज्योति है, जो तेजोमय है और उसी के दिये तेज से लगभग दो अरब सूर्य नाना सौरमण्डलों में ज्योतिवाले हो रहे हैं और परमात्मा से दग्ध करने, पका देने और नाश कर देने की नन्ही-सी शक्ति पाकर जीवों तथा वनस्पतियों, समुद्रों और अन्य पदार्थों का कितना कल्याण कर रहे हैं!

गायत्री द्वारा साधना करनेवाले को भी परमात्मा की शक्ति भर्ग का कुछ अंश अपने अन्दर लाना है, ताकि उसके पाप दग्ध हो जायें और फिर ज्योति-स्तम्भ बन सके। यहाँ तक पहुँचने के लिए तप तो तपना ही पड़ेगा, तभी तेज व ज्योति से साधक युक्त हो सकेगा।

'भारद्वाज स्मृति' में गायत्री-मन्त्र का भाष्य करते हुए लिखा है—'भर्गः—भञ्जो आमर्दने, भृजी भर्जने'। इन दोनों धातुओं से भजन करनेवालों के पाप-नाश करने हेतु भर्ग है।

देवस्य—

देव शब्द की महिमा और भी बड़ी है। गायत्री-मन्त्र में जो 'देवस्य' शब्द आया है, इसका भाव है—जो सबकी आत्माओं का प्रकाश करनेवाला और सारे सुखों तथा पूर्ण आनन्द का दाता है। ऐसा देव कौन है? वह सविता है। उसी सविता देव का ध्यान करना है, वही वरेण्य है, वही भगवान् है, वही आनन्ददाता है। वही सारे देवों का देव है, विद्वानों का विद्वान् है, दाताओं का दाता है।

दिव् धातु क्रीड़ा, विजिगीषा (जीतने की इच्छा), व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति, गति इन सब अर्थों में है।

'पचाद्यच्' इस सूत्र से अच् प्रत्यय करने पर 'देव' बनता है। जो चर-अचर को प्रकाश करे वह देव है अथवा जो प्रकाशस्वरूप है। सर्व प्रकाशों में, आत्मा में, परमेश्वर में देव शब्द घटित होता है।

'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में लिखा है—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

—एक ही देव सर्व भूतों में छिपा हुआ है, सर्वव्यापी और सर्वभूतों की अन्तरात्मा है, कर्मों का स्वामी (कर्मफल का अधिष्ठाता), सर्वभूतों का निवास-स्थान (सारे भूतों का आश्रय), साक्षी, चेतन, केवल और निर्गुण है।

'निरुक्त' में देव का यह अर्थ लिखते हैं—

देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा।

—देनेवाला होने से देव नाम है। दीपन कहते हैं प्रकाशित होने को। द्योतन कहते हैं प्रकाशित करने को। द्युस्थान प्रकाशक के पथ में रहनेवाला होने से।

देवता तीन प्रकार के हैं—(१) मूर्तिमान् देवता है—जैसे माता, पिता, गुरु; इनकी सेवा श्रद्धा-प्रेम से करनी चाहिए। ये तो एक प्रकार के मूर्तिमान् देवता हैं और दूसरी प्रकार के मूर्तिमान् देवता वे हैं जो ऊपर के तीन देवताओं की भाँति चेतन तो नहीं, परन्तु वे जीवों के लिए अत्यन्त लाभकारी हैं; जैसे अग्नि[1], वायु, सूर्य, चन्द्रमा, वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत् इत्यादि। (२) दूसरे प्रकार के वे देव हैं जो हवन-यज्ञ के लिए प्रयुक्त होते हैं, और ये वेद-मन्त्र ही हैं। ये गायत्र्यादि छन्द देवता कहलाते हैं, क्योंकि इन मन्त्रों के द्वारा सब विद्याओं का प्रकाश होता है। (३) तीसरे प्रकार का देवता सर्वशक्ति-सम्पन्न परमात्मा को कहते हैं।

जिन तेंतीस देवताओं का वर्णन आता है, वे ये हैं—आठ वसु—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यो, चन्द्रमा और नक्षत्र। इन्हें वसु इसलिए कहा जाता है कि ये सबके निवास करने के स्थान हैं।

ग्यारह रुद्र—प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय और ग्यारहवाँ जीवात्मा है। इन्हें रुद्र इसलिए कहते हैं कि जब शरीर से निकलते हैं तो सम्बन्धियों को रुलाते हैं।

बारह आदित्य—बारह महीने ही बारह आदित्य हैं। ये सारे जगत्

---

१. यजुर्वेद अ० १४, मं २०।

के पदार्थों का आदान—सबकी आयु को ग्रहण करते चले जाते हैं, इसलिए इनका नाम आदित्य है।

८ वसु + ११ रुद्र + १२ आदित्य = यह इकत्तीस हुए। इनके साथ १ इन्द्र और १ प्रजापति मिलाएँ तो तेंतीस होते हैं।[1]

परन्तु यह देव वह नहीं जिसका वर्णन गायत्री-मन्त्र में आया है। ऊपर के तेंतीस देवता उपासना करने के लिए नहीं हैं। उपासना जिस देवता की करनी है वह तो सब देवों का देव, इन तेंतीस देवताओं को भी वश में रखनेवाला एकमात्र परमात्मदेव ही है, जो भर्ग-शक्तिवाला, सविता-शक्तिवाला और वरेण्य है। ये तेंतीस देवता तो वह शक्ति नहीं रखते जो परमात्मदेव रखते हैं। इन देवताओं में जो शक्ति है, वह परमात्मदेव ही की दी हुई है। इन देवताओं के द्वारा जो भी सुख मिलता है, वह छायामात्र है और क्षणिक है। परन्तु परमात्मदेव द्वारा सुख ही नहीं, आनन्द भी मिलता है; वह क्षणिक नहीं, चिरस्थायी है। ३६००० (छत्तीस हज़ार) बार सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय का जितना समय होता है, उतने समय-पर्यन्त जीवों की मुक्ति का आनन्द मिलता है। चार अरब वर्ष सृष्टि का जीवन होता है; चार अरब ही प्रलय-काल का। अब ३६०००×८,००,००,००,००० का हिसाब लगाएँ तो २८,८०,००,००,००,००,००० वर्ष बनते हैं। इनकी तो गणना भी कठिन हो जाती है। इतना लम्बा आनन्द परमात्मदेव ही दे सकते हैं। गायत्री-मन्त्र में इसी देव को पुकारकर साधक चिरस्थायी आनन्द का आस्वादन लूटना चाहता है।

जिस बर्तन में जो पदार्थ पड़ा है, उसमें से वही निकलेगा। परमात्मा है ही आनन्दस्वरूप, तब वहाँ से आनन्द ही का प्रसाद प्राप्त होगा। जब साधक ने उस सविता देव के भर्ग, तेजोमय, अति श्रेष्ठ, पापनाशक ज्योति का निरन्तर ध्यान किया और अपनी भेंट परमात्मदेव के आगे चढ़ा दी तो वह साधक को आनन्द से भरपूर कर देता है।

---

१. देव विषय पर विस्तार से पढ़ना हो तो 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' का 'वेद-विषय-विचार' प्रकरण पढ़िये।

धीमहि—

सविता, वरेण्यम्, भर्गः और देवः, इन चारों शब्दों के पश्चात् 'धीमहि' शब्द आता है।

'तत् धीमहि'—उसको हम लोग सदा प्रेम-भक्ति से निश्चय करके अपने आत्मा में धारण करें—ध्यान करें, चिन्तन करें, निदिध्यासन करें।

ध्यै धातु चिन्तन अर्थ में है। 'ध्यायते लिङ्—बहुलं छन्दसि' इस सूत्र के सम्प्रसारण व्यत्यय करने पर आत्मनेपद हुआ। दिव्य नेत्रों से सत्-स्वरूप का ध्यान 'धी' कहलाता है।

'सांख्यसूत्र' अ० ३।३० में यह बतलाया है—

'रागोपहितध्यानम्।'

—किसी वस्तु में अनुराग से युक्त होने का नाम ध्यान है।

'योगदर्शन' विभूति पाद का दूसरा सूत्र यह है—

'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।'

—उनमें (जहाँ धारणा की है) वृत्ति का एक-सा बना रहना ध्यान है। जिस विषय को ध्येय बना लिया है, उसी में चित्त की वृत्ति को बाँध देना ध्यान कहलाता है। गायत्री-मन्त्र में ध्येय विषय परमात्मा का तेज-रूप है, प्रभु का प्रकाश है; निरन्तर उसी में वृत्ति को टिकाए रखना है। ध्यान के समय और कोई विचार मन अथवा चित्त में न आने पाए। यदि आ जाये तो उसे बलात् बाहर निकाल दिया जाये। प्रारम्भ में तो कुछ हठ से उसे कार्य लेना ही होगा। मन और चित्त बड़े चंचल हैं। अपने-आपको प्रभु-अर्पण करके भी मन में उद्विग्नता आ जाती है। यदि ऐसा हो तो परमात्मा के तेज के अतिरिक्त विचार अथवा दृश्य को तत्काल परे धकेल दिया जाए। बार-बार जब अन्य विचार को परे धकेला जाएगा तो ऐसे अभ्यास से शीघ्र अथवा कुछ विलम्ब से सफलता मिल ही जाएगी।

'ध्यानं निर्विषयं मनः'

—मन का निर्विषय हो जाना ध्यान है।

यहाँ मन को विषयों की वृत्ति से सर्वथा शून्य करने की बात कही गई है। परन्तु क्या शून्य-अवस्था में वहाँ कोई भी विषय नहीं रहता? यह सत्य है कि उस अवस्था में कोई बाह्य अथवा लौकिक विषय नहीं रहता, परन्तु ब्रह्म विषय तो वहाँ विद्यमान है। ब्रह्म को तो कोई वहाँ से निकाल नहीं सकता। इसलिए निर्विषय होकर भी मन ब्रह्म-विषय-वाला बना रहता है, और लक्ष्य भी तो ब्रह्म ही है। ब्रह्म-ज्योति ही को निशाना बनाकर उसी पर धारणा करनी है। जब धारणा परिपक्व हो जाती है तो वही ध्यान कहलाता है। जब निरन्तर ध्यान बना रहे एवं उसमें कोई और वृत्ति विघ्न न डाले तो वही एकटक ध्यान जब पूर्ण परिपक्व होता है तो उसी को समाधि-अवस्था कहा जा सकता है; परन्तु अभी यह सम्प्रज्ञात समाधि है। यह धारणा, ध्यान और समाधि वास्तविक रूप में एक ही यत्न के तीन भाग हैं। चित्त की वृत्ति को जब ब्रह्म-ज्योति की धारणा करके वहाँ टिकाया और चित्त-वृत्ति के निरोध का वहीं यत्न होने लगा तो धारणा की अवस्था आने लगी। जब पर्याप्त समय तक चित्तवृत्ति वहीं टिकी रही तो यही अवस्था फिर ध्यान में बदल गई। जब पूरी एकाग्रता-तल्लीनता अधिक सूक्ष्म तथा शुभ्र हो जाती है और साधक के ध्यान में ध्येय वस्तु अर्थात् ब्रह्म-ज्योति के अतिरिक्त और कोई सुध-बुध नहीं रहती, वही समाधि-अवस्था कही जाती है।

गायत्री-मन्त्र का 'धीमहि' शब्द इसलिए बड़े महत्त्व का है क्योंकि यह अष्टाङ्गयोग की सातवीं मंजिल पर पहुँचने की पूरी तैयारी है।

'योग' चित्त की वृत्ति ही का तो निरोध करने का नाम है और 'धीमहि' उस निरुद्ध-अवस्था तक पहुँचने का आदेश भी देता है और साथ ही साधन भी बतलाता है।

साधन यह है कि उस सविता परमात्मा का जो भर्ग—अतिश्रेष्ठ, पाप दग्ध करनेवाला तेज है, उसका साधक को दिव्य नेत्रों से ध्यान करना है।

महर्षि दयानन्द का आदेश है—इस मन्त्र द्वारा सारे विश्व को

उत्पन्न करनेवाले परमात्मा का जो उत्तम तेज है, उसका ध्यान करने से बुद्धि की मलिनता दूर हो जाती है। परमात्मा के इसी तेज का वर्णन महर्षि दयानन्द ने 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' के उपासना-विषय में किया है—

युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्॥
यजु० अ० ११, मं० ३॥

—वह परमेश्वर देव भी उपासकों को अत्यन्त सुख को देके उनकी बुद्धि के साथ अपने आनन्दस्वरूप प्रकाश को करता है, तथा वही अन्तर्यामी परमात्मा अपनी कृपा से उनको युक्त करके उनके आत्माओं से (बृहज्ज्योति) बड़े प्रकाश को प्रकट करता है और (सविता) सब जगत् का जो पिता है वही उन उपासकों को ज्ञान और आनन्दादि से परिपूर्ण कर देता है।

जब अपने-आपको प्रभु-अर्पण करके परमात्मा के पाप-दुःख-विनाशक भर्ग—तेज—ज्योति—प्रकाश का निरन्तर ध्यान किया जाता है, तो जितना अधिक ध्यान जमता है उसी मात्रा में बुद्धि की मलिनता दूर होती जाती है। यह ध्यान मन, बुद्धि तथा चित्त को निर्मल बनाने का अमोघ साधन है।

ध्यान सिन्धु मुक्ता घने, जो खोजे सो पाए।
चंचलता मन की मिटे, सहज शान्ति मिल जाए॥

धियो यो नः प्रचोदयात्—

जब प्रभु-अर्पण होकर ध्यान द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होने लगता है, तो प्रभु का आशीर्वाद भी मिलने लगता है कि माँगो क्या चाहते हो। तब उपासक-साधक में एक अभिलाषा प्रकट होती है। क्या?

'धियो यो नः प्रचोदयात्'

—हमारी बुद्धि को, कर्म को अपनी ओर ले चलो।

'धियः' शब्द का अर्थ बुद्धि भी है, कर्म भी है और वचन भी है। जब साधक ने 'धियः' कहा तो प्रयोजन यह हुआ कि हमारी बुद्धि को, वचन को तथा कर्म को ऐसी प्रेरणा करो कि वह आपकी ही ओर चलें, कहीं इधर-उधर न चले जाएँ। कर्म हो तो ऐसा जो साधक को प्रभु के निकट ले चले, वचन बोलें तो ऐसा जो तेरे ही गुण गाए, तेरा ही कीर्तन करे और तेरी आज्ञा-पालन का आदेश दे। यह तभी होगा जब साधक की बुद्धि में ऐसी ही भावनाएँ होंगी।

धिय के आगे **'यो'** शब्द है, इस 'यः' के अर्थ हैं 'जो'। जो कौन? वही पूर्वोक्त सवितादेव परमेश्वर ही की ओर यह 'यः' संकेत कर रहा है।

'नः' का अर्थ है 'हमारी'।

'प्रचोदयात्' शब्द के अर्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की ओर जाने की प्रेरणा करे और बुरे कामों से अलग रखे।

चुद् धातु 'प्रेरणा' के अर्थ में है। अच्छी तरह प्रेरणा करने से प्रचोदयात् हुआ।

सवितादेव=प्रेरणा करके आनन्द देनेवाले परमात्मा ही को गायत्री-मन्त्र द्वारा साधना करनेवाला पुकार रहा है। जिस सविता-शक्ति ने सारी सृष्टि रची, सारे ज्ञान-विज्ञान का निर्माण किया, सारे वैभव, सारे धन—सोना-चाँदी तथा अमूल्य हीरे-पन्ने इत्यादि जिसके संकेतमात्र से बन गए, उसी सवितादेव का गायत्री-मन्त्र में आह्वान किया गया है, ताकि गायत्री-उपासक को सारे पदार्थ प्राप्त हो सकें और बुद्धि इतनी निर्मल हो जाये कि यह प्रभु-दर्शन पाने का भी एक साधन बन जाये।

जिस प्रकार सारे संसार को बनानेवाला परमात्मा अपनी सविता-शक्ति से सूर्य, चन्द्र, जल, वायु आदि को प्रेरणा करता है, उसी प्रकार मनुष्य में 'मन' भी एक ऐसी ही सविता-शक्ति है। 'शतपथ ब्राह्मण' में कहा भी है—

"मनो वै सविता"। श० ब्रा० ६। ३। १। १३॥

अर्थात् मनुष्य में सविता उसका मन है। गायत्री-मन्त्र के अर्थों पर विचार करते हुए साधक को अपने मन को सवितादेव के साथ जोड़

देना है। मन तो प्राकृत पदार्थ है। पता नहीं यह अन्धी प्रकृति कहाँ ले जाये ! हाँ, यह मन है बड़ा शक्तिशाली। जब इसे शुभ प्रेरणा करनेवाले आनन्ददाता सवितादेव के साथ जोड़ दिया जाएगा तो मन को वहाँ से शुभ प्रेरणा मिलेगी, वहीं से दिव्य प्रकाश मिलेगा और वहीं से बुद्धि तथा कर्म एक होकर जीवन में माधुर्य ले आएँगे। गायत्री-मन्त्र को सविता-मन्त्र भी कहते हैं, क्योंकि इसका देवता सविता है। 'गोपथ-ब्राह्मण' में मैत्रेय और मौद्गल्य का बड़ा सुन्दर संवाद सावित्री के सम्बन्ध में है। मैत्रेय पूछता है कि सविता+सावित्री का रहस्य क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में मौद्गल्य ने कहा—मन सविता है, वाक् सावित्री है; अग्नि सविता है, पृथिवी सावित्री है; वायु सविता है, अन्तरिक्ष सावित्री है; आदित्य सविता है, द्यौ सावित्री है। इसी प्रकार चन्द्र तथा नक्षत्र, दिन और रात, गर्मी और सर्दी, मेघ और वृष्टि, बिजली और गरज, प्राण तथा अन्न, वेद और छन्द, यज्ञ और दक्षिणा—इन सबको सविता-सावित्री बतलाया है; अर्थात्, सविता-सावित्री के मिलाप से किसी वस्तु का रूप बनता है। सविता-सावित्री के मिलाप ही से सारे कार्य पूर्ण होते हैं। मानव-जीवन भी सविता-सावित्री के सम्मिलित विकास का फल है। सविता जीवन की मूल शक्ति—प्राण है। सावित्री उसका विस्तार है। मानव यदि सवितादेव से मन का सम्बन्ध कर लेगा तो वह जीवन का पूर्ण लाभ प्राप्त करेगा।

४

गायत्री-उपासना

गायत्री-उपासना का प्रयोजन है, गायत्री-मन्त्र द्वारा उपासना। यह मन्त्र साधना तथा उपासना का आदिकाल से बहुत बड़ा साधन रहा है, और इस युग में भी गायत्री द्वारा साधना-कार्य पूर्ववत् सफल होता है।

यम-नियम—

सबसे पहली बात तो यह है कि इस मन्त्र द्वारा साधना करने का अधिकार मनुष्य-मात्र को है। स्त्री-पुरुष, छोटे-बड़े, सभी इससे लाभ उठा सकते हैं। हाँ, आवश्यकता यह है कि साधना करते हुए अष्टांग-योग के पहले दो अंगों (यम तथा नियम) को अपने जीवन का सुन्दर अंग बना लिया जाये।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—ये दसों यदि साधक के जीवन में थोड़ी-बहुत मात्रा में भी आ सकें तो गायत्री-मन्त्र द्वारा साधना सफल होती है।

यम क्या हैं ?

पाँच यमों द्वारा साधक के व्यवहार का परिचय मिल जाता है—

(१) **अहिंसा** का भाव यह है कि कोई भी कर्म दूसरे को दुःख देने की नीयत से न किया जाये, चाहे वह मानसिक हो, वाचिक हो या शारीरिक।

(२) **सत्य** का भाव यह है कि साधक का आहार, आचार, विचार, व्यवहार ऐसा हो जो उसके चित्त को मैला न करे। मन, वाणी, कर्म में एकता की स्थापना को सत्य कहते हैं।

(३) **अस्तेय** का भाव यह है कि साधक अनुचित लोभ और राग से बचे, क्योंकि मर्यादा के किनारे तोड़कर तूफ़ान में आया लोभ और राग ही चोरी, डाका, रिश्वत, चोरबाज़ारी, धोखा, अन्याय इत्यादि कुकर्म कराता है, इनसे बचना अस्तेय है। प्रयोजन यह है कि साधक की कमाई नेक हो, अन्न पवित्र हो।

(४) **ब्रह्मचर्य** के दो भाव हैं—एक तो हर समय ब्रह्म, परमात्मा में विचरने की वृत्ति बना लेना; दूसरे अन्न इत्यादि के खाने से शरीर में जो सार वस्तु बनती है उसका दुरुपयोग न करना, अपितु उसे शरीर में सँभालकर रखना ताकि वह वीर्य ओज का सूक्ष्म रूप धारण करके आत्मदर्शन में सहायक हो सके।

(५) **अपरिग्रह** का भाव यह है कि अपनी जीवन-यात्रा की आवश्यकताओं को जितना कम किया जा सके, कम कर दिया जाये। परिग्रह का मूल कारण तो अविद्या आदि क्लेश और चित्त तथा शरीर में ममत्व और अहंकार है। इन्हीं के कारण भोग-सामग्री एकत्र करने की रुचि होती है, और आज दुनिया इसी परिग्रह के पाप से अत्यन्त दुःखी हो रही है। साधक अथवा उपासक को परिग्रह की वृत्ति को परे हटा देना है।

ये पाँचों यम साधक की परीक्षा हैं और इन पाँचों कसौटियों द्वारा वह स्वयं देख सकता है कि वह सफल हो रहा है अथवा असफल?

नियम क्या हैं?

पाँच नियम उपासक के आन्तरिक जीवन से विशेष सम्बन्ध रखते हैं—

शौच—यह दो प्रकार का है—बाहर की पवित्रता और अन्दर की शुद्धि; अर्थात् शरीर और अन्तःकरण दोनों को शुद्ध रखना। बाहर की शुद्धि तो जल इत्यादि और शुद्ध-पवित्र आहार तथा नियमित व्यवहार द्वारा शरीर को स्वस्थ रखने से होती है, और अन्दर की शुद्धि रेचक, पूरक, कुम्भक, प्राणायाम तथा अन्तःकरण से ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, क्रोध, चिन्ता इत्यादि को निकालकर उनके स्थान में प्रसन्नता, मित्रता, करुणा, दया, परहित-चिन्तन इत्यादि से होती है। छोटे-खोटे संकल्प-विकल्प के स्थान पर उत्साह, आनन्द, अभयता के सुन्दर-निर्मल विचारों को लाने से आभ्यन्तर शुद्धि होती है।

सन्तोष—दूसरा नियम सन्तोष है। बुद्धि तथा सामर्थ्यानुसार भरसक प्रयत्न करना, त्रुटि रह जाये तो पुनः-पुनः यत्न जारी रखना और फल अनुकूल अथवा प्रतिकूल मिले तो उसी में प्रसन्न रहना, सन्तोष है। परन्तु आलस्य, प्रमाद अथवा पुरुषार्थ से जी चुराने का नाम सन्तोष नहीं, अपितु थका देनेवाला पुरुषार्थ करते हुए अपने अन्दर सत्त्वगुण प्रधान करके मन को प्रसन्न रखने का नाम है।

तप—यह तीसरा नियम है और मानव को लौकिक तथा पारलौकिक सफलता देने की कुञ्जी है। जो भी कर्त्तव्य साधक ने अपने

ऊपर लिया है, उसे पूर्ण करने के लिए हर प्रकार के द्वन्द्व सहन करना और अपने शरीर, प्राण और मन को सात्त्विक अभ्यास से लोक तथा परलोक की यात्रा में लगाना, तप कहलाता है। तप का अधिक सम्बन्ध शरीर की अपेक्षा मन के साथ है। शरीर को स्वस्थ रखना भी एक तप है। जब शारीरिक तप तपा जाएगा तो साधक (१) सात्त्विक आहार रखेगा, (२) प्रातः चार बजे से पूर्व उठ जाएगा, (३) शौच, स्नान इत्यादि से निवृत्त होकर शुद्ध वायु में प्राणायाम तथा योगासन करेगा, (४) मानसिक चिन्ताओं से बचकर मन को प्रसन्न रखेगा। मन को तप की भट्टी में डालने का प्रयोजन यह है कि मन को ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, क्रोध, चिन्ता तथा काम इत्यादि के अनुचित वेगों से परे रखा जाये। यह शारीरिक तथा मानसिक तप साधक के जीवन को मधुर बना देगा।

स्वाध्याय—इस चौथे नियम का भी बड़ा भारी महत्त्व है। इसके दो अर्थ हैं—एक तो वेद, उपनिषद् आदि ग्रन्थों का नित्यप्रति अध्ययन और गायत्री तथा ओम् का ध्यानपूर्वक तप; और दूसरा अर्थ यह है कि साधक प्रतिदिन अपना अध्ययन करे, अपने-आपको पढ़े कि मेरे सूक्ष्म शरीर की पुस्तक के पन्नों पर क्या लिखा जा रहा है। मानव स्थूल शरीर के अतिरिक्त एक सूक्ष्म शरीर भी है। यह स्थूल शरीर तो इसी जन्म में मिला और इस जन्म में छिन जाएगा, परन्तु सूक्ष्म शरीर जन्म-जन्मान्तर से हमारे साथ है। पिछले अनेक जन्मों में जो भी अच्छे-बुरे कर्म या संकल्प हम करते रहे हैं, उन सबका पूरा ब्यौरा (रिकॉर्ड) इस सूक्ष्म शरीर पर अंकित है, और उसी के अनुसार हम भोग भोगते हैं। इस जन्म में जो भी कर्म हम कर रहे हैं, उनका रिकॉर्ड भी इसी सूक्ष्म शरीर में रखा जा रहा है। साधक को प्रतिदिन यह देखना है कि मेरे सूक्ष्म शरीर पर आज अच्छी बातें लिखी गई हैं या बुरी? वे मुझे मानवता से नीचे गिरानेवाली हैं अथवा मानव ही रखनेवाली हैं या मानवता से ऊपर उठानेवाली हैं? यदि गिरानेवाली हैं तो सावधान हो जाओ, सँभलो और निश्चय करो कि अब मैं मन

को, शरीर को पतित नहीं होने दूंगा, किसी भी इन्द्रिय को आज्ञा न दूंगा कि वह मेरे सूक्ष्म शरीर पर बुरा संस्कार छोड़ने का कारण बने। साधक ! स्मरण रखो, जैसे संस्कार सूक्ष्म शरीर पर पड़ रहे हैं, अगला जन्म वैसा ही मिलेगा। यदि मन में ऐसी वृत्तियाँ आ रही हैं जो विषय-भोग, अत्यन्त काम-वासना, हिंसा, झूठ, द्रोह, धोखा, अत्यन्त लोभ, क्रोध, अमर्यादित अहंकार तथा मोह आदि दोषोंवाली हैं तो समझ लो कि मनुष्यत्व छिन रहा है ; दुर्लभ मानव-चोला जो प्रभु-कृपा से मिला था, छिन जाएगा ; किसी अन्य निचली योनि में जाना पड़ेगा, क्योंकि वृत्तियों के अनुसार सूक्ष्म शरीर का रूप बनता चला जाता है। जैसे वृत्तियाँ अनेक हैं, ऐसे ही योनियाँ भी अनेक हैं। वृत्तियों और कर्मों के अनुसार सूक्ष्म शरीर वही रूप धारण कर रहा है। कुत्ते, सूअर, सर्प, बिच्छू, पशु, पंछी इत्यादि के जो स्वभाव हैं, यदि मानव-चोलेवाले का वैसा ही स्वभाव है तो निश्चय रखो कि मानव-शरीर में रहते हुए भी सूक्ष्म शरीर उसी प्रकार का बनता जा रहा है और और मृत्यु-समय सूक्ष्म शरीर उसी प्रकार की योनि अर्थात् शरीर में चला जाएगा और इस जन्म में वही व्यक्ति जो मनुष्य कहलाता था अपनी वृत्तियों और कर्मों के अनुसार दूसरे जन्म में कुत्ता, सर्प, बिच्छू, पशु, पक्षी, वृक्ष इत्यादि बन जाएगा। जिस प्रकार चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींचता है, उसी प्रकार गर्भ या योनियाँ अपने स्वभाववाले सूक्ष्म शरीरों को अपनी ओर ले आते हैं। बड़ी सावधानी से सूक्ष्म शरीर को देखते रहो कि वह किस प्रकार के गर्भ अथवा योनि में जाने के योग्य बन रहा है क्योंकि मनुष्य अपने संकल्पित लोक में जाता है। 'प्रश्न-उपनिषद्' ३।१० में कहा भी है—

'यथा सङ्कल्पितं लोके नयति'

—(जीव) अपने लिए तैयार किये हुए लोक में जाता है।

'बृहदारण्यकोपनिषद्' में यह आदेश है—

"यथाकारी यथाचारी तथा भवति। साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापी भवति, पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन ॥"

—वह जैसा करनेवाला और जैसा चलनेवाला (चरित्रवाला) होता है वैसा ही बनता है—नेकी करनेवाला नेक बनता है, और बुराईवाला बुरा बनता है। पुण्य-कर्म से पुण्यात्मा बनता है और पाप-कर्म से पापात्मा।

इन वृत्तियों तथा कर्मों के संस्कार सूक्ष्म शरीर पर पड़ते हैं और वह इन संस्कारों से कई रंगों का बन जाता है। बृहदा० २।३।६ से ऋषि ने अपना अनुभव यह लिखा है—"उस पुरुष—सूक्ष्म शरीर—का रूप-वर्णन करते हैं। केसर के रंग से रँगे हुए वस्त्र की भाँति (केसरी), भूसले ऊन की नाईं (भूसला), बीरबहूटी के रंग का (लाल), श्वेत कमल की नाईं (सफेद), एकदम बिजली की चमक की तरह चमकता हुआ। उसकी शोभा बिजली की तरह चमक उठती है जो इस रहस्य को जानता है।"

जिस प्रकार के अच्छे या बुरे अथवा मिश्रित कर्म मनुष्य करता है, वैसा ही रंग उसके सूक्ष्म शरीर पर चढ़ता है। जब जीव स्थूल शरीर को छोड़ता है तो यह उसके कर्मों का रँगा हुआ कपड़ा (सूक्ष्म शरीर) उसके साथ जाता है। जिन रंगों का ऋषि ने वर्णन किया है वे तो केवल उदाहरण के लिए हैं। रंग अनेक चढ़ जाते हैं। जितने प्रकार की वृत्तियाँ, कर्म तथा वासनाएँ हैं, रंग भी उतने प्रकार के हैं; और योनियाँ भी उतने प्रकार की हैं। अतएव साधक को प्रतिदिन देखते रहना है कि मेरे सूक्ष्म शरीर पर किस प्रकार के रंग चढ़ रहे हैं और मेरे इस सूक्ष्म शरीर की पुस्तक पर क्या-कुछ लिखा जा रहा है, क्योंकि यही सूक्ष्म शरीर जीव के साथ जाता और कर्मानुसार भोग भोगता है। मनुष्य की गति नीचे की ओर स्थावर तक और ऊपर की ओर ब्रह्म-प्राप्ति तक है। प्रतिदिन अपना अध्ययन करते रहना दूसरे प्रकार का स्वाध्याय है।

ईश्वर-प्रणिधान—पाँचवाँ नियम सारे नियमों का जीवन है। इसके अर्थ हैं—अपने-आपको, अपने कर्मों को, अपने संकल्पों को भी परमात्मा के अर्पण कर देना और विशेष भक्ति द्वारा परमात्मा की

प्रसन्नता, कृपा, करुणा का पात्र बनना। जब साधक को यह निश्चय होगा कि उसे जो भी कर्म करना है, उसे प्रभु की भेंट चढ़ा देना है, तब साधक देखेगा कि जो कर्म या संकल्प वह करने लगा है क्या वह इस योग्य है भी या नहीं जो शुद्ध, निर्मल, आनन्दस्वरूप भगवान् के अर्पण किया जा सके? तब वह कोई कुकर्म कर ही नहीं सकेगा; कोई तुच्छ विचार भी नहीं ला सकेगा। साधक सुकर्मी बन जाएगा और परमात्मा उसको सुपात्र समझकर उसकी भेंट स्वीकार कर लेगा, और जब भेंट स्वीकार हो गई तो फिर साधक के लिए कोई भी वस्तु अलभ्य नहीं रहेगी।

उत्कट इच्छा—

गायत्री-उपासना में सफल होने के लिए यम-नियम का पालन उसी प्रकार अनिवार्य है, जैसे कोई बहुत बड़ा भवन बनाने के लिए उसकी मजबूत बुनियाद (नींव) रखना अनिवार्य है। इसीलिए ऊपर यम-नियमों के सम्बन्ध में कुछ विवरण दे दिया गया है। उपासकों और साधकों को सर्वदा इस बात को सामने रखना है कि साधना या उपासना तभी हो सकेगी, जब शरीर स्वस्थ होगा। इसलिए स्वास्थ्य-रक्षा के लिए अपने आहार, निद्रा तथा ब्रह्मचर्य का पूरा ध्यान रखना अनिवार्य है।

यह भी अपने समक्ष रखो कि जिस साधक ने काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार पर विजय प्राप्त नहीं की और जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय इत्यादि को अपने जीवन में ढाल नहीं रहा, वह साधना-पथ पर सफलता से कैसे चलेगा?

जिसका व्यवहार दूसरों के प्रति शुद्ध है, कमाई नेक है, वाणी में माधुर्य, हृदय में दया तथा परोपकार की भावना है, चित्त में निरभिमानता है और बुद्धि में निर्मलता तथा सात्त्विकता है, वह साधक सफल हो सकेगा।

परन्तु यम-नियमों की भट्टी में वही तप तपेगा जिसके अन्दर लोक-परलोक दोनों के सुधार की उत्कट इच्छा होगी। यदि इच्छा प्रबल

नहीं है तो थोड़े ही दिनों के पश्चात् यम-नियमों का पालन एक बोझ-सा प्रतीत होने लगेगा, और रजोगुणी मन ऐसी-ऐसी बातें सुझाएगा कि 'किस झंझट में पड़ गए? अरे खाओ, पिओ, मौज उड़ाओ, यहाँ तो कुकर्मी ही सुख भोग रहे हैं। इन साधनों में क्या रखा है?' परन्तु देखना, कहीं फिसल न जाना! कुकर्मियों को सुखी देखकर भ्रम में न पड़ जाना! इन कुकर्मियों की यथासमय दुर्गति अवश्य होनेवाली है।

मानव-जीवन के दो स्तर हैं—एक भौतिक, दूसरा आध्यात्मिक, अर्थात् एक बाह्य जीवन और दूसरा आन्तरिक जीवन का मूल है। मनुष्य को प्रकृति से लाभ उठाते हुए इसे केवल साधनमात्र बनाकर परमात्मा तक पहुँचना है। साधक के अन्दर यदि उत्कट इच्छा है, प्रबल इच्छा की विद्युत् निर्बल नहीं, तब तो वह प्रकृति और इससे बनी दुनिया, और दुनिया के सारे पदार्थों को केवल साधन समझकर इनमें फँसता नहीं और माया के तमाशे देखता आत्मा की ओर बढ़ता चला जाता है। यदि इच्छा की मात्रा कम हो तो माया के प्रलोभन उसे जकड़ लेते हैं और उसके लोक-परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं।

उत्कट इच्छा तभी होती है जब साधक के अन्दर विश्वास और श्रद्धा हो। आधुनिक काल की 'सभ्यता' ने, जिसे भ्रम से उच्च सभ्यता कह दिया जाता है, सबसे बड़ा पाप यह किया है कि उसने श्रद्धा और विश्वास की हत्या कर डाली है। इसीलिए आज का मानव अधिक दुःखी हो गया है। हमारे ऋषियों, तपस्वियों तथा योगियों ने समाधि-अवस्था की प्रयोगशाला में घण्टों, दिनों, महीनों बैठकर जो तथ्य और सार निकाले थे, वे दिन के सूर्य की भाँति सत्य हैं। वेद का मन्थन करके जो मक्खन वे हमारे लिए छोड़ गये हैं, वह मानव को सच्चा मानव बनाकर लोक में सुखी और परलोक में सफल बनाता है। इस तथ्य पर निश्चय करके विश्वास करो, तब श्रद्धा से उसका सेवन करने के लिए गायत्री-उपासना के लिए तैयारी करो।

उत्कृष्ट इच्छा होने पर ही साधना में प्रवृत्त हुआ जा सकता है।

चित्त का स्वभाव यह है कि देखी-सुनी और की हुई बातों का बार-बार
चिन्तन करता है। जो जिस प्रकार का, जिस पदार्थ का चिन्तन हो
रहा है, उसी पदार्थ में फिर चित्त का झुकाव हो जाता है। जब झुकाव
या प्रवृत्ति बनी रहती है तो वहाँ चित्त की स्थिति हो जाती है। जब
साधक श्रद्धा-विश्वास से गायत्री का जप इस ध्यान से करेगा कि गायत्री
के द्वारा मेरा लोक-परलोक दोनों सुधर जाएँगे तो निश्चित रूप से
चित्त गायत्री-उपासना से स्थिर होने लगेगा। इसमें कुछ सन्देह न
करो। अनुभव द्वारा भी यह सिद्ध हुआ सत्य है और स्वयं परमात्मा
ने भी वेद में ऐसा ही विश्वास करने की आज्ञा दी है—

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।

यजु० ११।५॥

महर्षि दयानन्द ने 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' में इस मन्त्र की जो व्याख्या की है वह यह है—

"हे मोक्ष-मार्ग के पालन करनेवाले मनुष्यो ! तुम सब लोग सुनो कि जो दिव्य-लोकों अर्थात् मोक्ष-सुखों को पूर्व प्राप्त हो चुके हैं, उन्हीं के उपासना-योग से तुम लोग भी उन सुखों को प्राप्त हो। इसमें सन्देह मत करो। इसलिए मैं तुमको उपासना-योग में युक्त करता हूँ।"

उपासक जब गायत्री द्वारा उपासना करने लगे तो उसे पूर्ण श्रद्धा-विश्वास के साथ उत्कट इच्छा से उपासना करनी ही होगी।

गायत्री-जप कैसे करें—

यम-नियम, विश्वास, श्रद्धा तथा उत्कट इच्छा से उपासक रँगा गया तो गायत्री-जप से पूर्व इस महामन्त्र के अर्थ भी हृदयंगम कर लेने आवश्यक हैं। कुछ विस्तार से गायत्री-मन्त्र के शब्दों के अर्थ लिखे जा चुके हैं, परन्तु जप के लिए अर्थ इतने संक्षिप्त होने चाहिएँ कि वे शब्दों के साथ-साथ भावना-रूप में आते रहें। इसीलिए यहाँ संक्षेप में वे अर्थ लिखे जाते हैं—

'हे रक्षक ! प्राणाधार ! दुःखों के दूर करनेवाले सुखदाता ! तेरे वरणे—ग्रहण करने योग्य, पापनाशक तेज का ध्यान धरते हैं, जो

आनन्द का देनेवाला और जन्मदाता है। हमारे बुद्धि-कर्म को शुभ प्रेरणा करो, अपनी ओर ले चलो।'

यह संक्षिप्त भावार्थ हृदय में बिठला लेना चाहिये। तब शुद्ध-पवित्र होकर, स्वस्थ आसन पर बैठकर यह विचार करना चाहिए कि मैं इस समय माता की गोदी में जा रहा हूँ या जा रही हूँ। ग्रीवा, पीठ सीधी रखकर ध्यान भृकुटि अथवा हृदय-प्रदेश में रखना चाहिए।

सत्त्वगुण प्रधान कर लो—

गायत्री-जप प्रारम्भ करने से पूर्व अपने शरीर तथा मन में सत्त्व-गुण प्रधान कर लेना चाहिए। यदि सत्त्वगुण प्रधान न हो तो मन की चंचलता अधिक रहती है और चित्तवृत्ति भटकती रहती है। सत्त्वगुण प्रधान करने की विधि यह है—अपनी दोनों नासिकाओं के आगे हाथ रखकर श्वास को ज़ोर से बाहर फेंको और देखो कि किस नासिका से अधिक बल से श्वास निकला है। यदि सूर्यस्वर (दाईं नासिका) से श्वास ज़ोर से निकला है तो समझो कि रजोगुण और तमोगुण दोनों कार्य कर रहे हैं। सूर्यस्वर में चित्त अधिक चंचल रहता है, अतएव सूर्यस्वर के स्थान पर चन्द्रस्वर (बाएँ) को चलाना होगा। बाएँ हाथ की मुट्ठी बन्द करके दाईं बग़ल (कुक्षि) में रखकर ज़ोर से दबाओ, एक-दो मिनट ही में सूर्यस्वर बन्द होकर चन्द्रस्वर चलने लगेगा। सीधे बैठ जाइये और दस से बीस तक लम्बे-लम्बे श्वास लीजिये। ये श्वास धीरे-धीरे लीजिये, तब चन्द्र तथा सूर्यस्वर सम हो जाएँगे। समस्वर में सत्त्वगुण प्रधान होता है; रजोगुण तमोगुण दब जाते हैं। सत्त्वगुण प्रधान होने पर गायत्री-मन्त्र का थोड़े-से धीमे-धीमे स्वर में उच्चारण कीजिये। तीन बार ऐसा करके मन्त्र का मानसिक जप प्रारम्भ कर दीजिये।

ध्यानावस्थित—

जप करते हुए जब आधा घण्टा या एक घण्टा व्यतीत हो जाये तो जप छोड़ दीजिये और भृकुटि में यह धारणा कीजिये कि यहाँ दीप-शिखावत् या चन्द्रवत् कोई ज्योति है। बार-बार ऐसी धारणा करने

से थोड़े दिनों या सप्ताहों या महीनों के पश्चात् यह ज्योति अन्दर की आँखों से दिखाई देने लगती है। समय कितना लगेगा, यह तो अपने चित्त की अवस्था पर निर्भर है। जितनी अधिक निर्मलता होगी, उतनी ही शीघ्रता से ज्योति दीखने लगेगी। कुछ साधकों को ज्योति दिखलाई नहीं देती और उसके स्थान में भृकुटि में खिचावट-सी, सनसनाहट-सी प्रतीत होने लगती है। यह चिह्न भी अच्छा है। इससे समझ लेना चाहिए कि सूक्ष्म प्राण की गति वहाँ होने लगी है, और ज्यों-ज्यों भृकुटि की विशेष नाड़ी ध्यान से शुद्ध होती जाएगी, यह सूक्ष्म प्राण ललाट-चक्र और फिर ब्रह्मरन्ध्र में चल जाएगा। सूक्ष्म प्राण की गति के साथ चित्त भी वहीं बाँधा जाएगा। इस प्रकार प्रतिदिन कम-से-कम एक घण्टा अवश्य धारणा, ध्यान कर लेने चाहिएँ। यदि अधिक समय दिया जा सके तो लाभ अधिक होगा।

निरन्तर ध्यानावस्थित होने का अभ्यास करने से और ज्योति अथवा सनसनाहट को अनुभव करने से बुद्धि की मलिनता दूर होने लगती है। ज्योति जितनी शुभ्र, अथवा सनसनाहट जितनी तीव्र होती जाएगी, निर्मलता, पवित्रता भी उतनी मात्रा में बढ़ती जाएगी, क्योंकि अनुभव यह बतलाता है कि परमात्मा का पापनाशक, अतिश्रेष्ठ तेज का ध्यान करने से बुद्धि की मलिनता दूर होती जाती है और उसके स्थान में निर्मलता और पवित्रता आती जाती है।

स्थान का प्रभाव—

गायत्री-जप के लिए स्थान भी स्वच्छ और सुन्दर होना चाहिए, क्योंकि स्थान भी चित्तवृत्ति-निरोध में सहायक होता है। महर्षि दयानन्द ने भी 'सत्यार्थ-प्रकाश' के एकादश समुल्लास में लिखा है—"उत्तरकाशी आदि स्थान ध्यानियों के लिए अच्छे हैं···केदारनाथ का स्थान···वह भूमि बहुत अच्छी है···" बद्रीनारायण के सम्बन्ध में वे आदेश देते हैं—"वहाँ की भूमि बड़ी रमणीय और पवित्र है।"

वेद भगवान् ने स्वयं यह आदेश दिया है—

उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत॥

ऋ० ८।६।२८॥

—पर्वतों की कन्दराओं, में और नदियों के संगम पर ध्यान करने से बुद्धि तीव्र हो जाती है।

यदि पहाड़ की कन्दरा अथवा नदियों का संगम-स्थान या नदी-तट न मिले तो किसी झील, स्रोत अथवा ताल के किनारे, या किसी रम्य वाटिका में जप करना चाहिए। ऐसा स्थान भी प्राप्त न हो तो फिर अपने गृह के किसी एकान्त कोने या कमरे में आसन बिछाकर वहाँ धूप, अगरबत्ती या चन्दन जलाना चाहिए। इस स्थान को स्वयं साफ करना चाहिए, और ऐसे स्थान पर यह भावना लेकर जाना तथा बैठना चाहिए कि मैं प्रभु-मन्दिर में आ गया हूँ या आ गई हूँ।

स्थान यदि स्वच्छ न होगा तो मन में अधिक प्रसन्नता नहीं आ सकेगी। शराब की दुकान में बैठकर प्रभु-भजन करने को चित्त नहीं चाहता, परन्तु स्वच्छ मन्दिर में भजन के लिए बैठने को स्वयमेव चित्त तैयार हो जाता है। चित्तवृत्ति-निरोध में सहायक होने के कारण ही तपस्वी लोग उत्तरा-खण्ड के पर्वतों, वनों तथा सरोवर के तट पर कुटिया बनाते थे, ताकि सफलता शीघ्र हो सके। परन्तु सब लोग ऐसा नहीं कर सकते, अतएव उन्हें अपने ही गृह में ऐसा वातावरण बना लेना चाहिए और वर्ष में एक-दो बार, दस-पन्द्रह दिन या महीना-भर के लिए किसी एकान्त वन में जाकर गायत्री-जप तथा ध्यानावस्थित होने के लिए अभ्यास करना चाहिए।

गायत्री द्वारा बुद्धि तथा हृदय पर प्रभाव—

इस महामन्त्र के २४ अक्षरों का संगठन इतना अद्भुत है कि इसके मानसिक जप अथवा वाणी द्वारा उच्चारण करने से विशेष दिव्य तरंगें उठती हैं जो बुद्धि-मण्डल, मूलाधार चक्र तथा अन्य मर्मस्थलों पर जाकर चोट लगाती हैं। जिस प्रकार वीणा के तार छेड़ने से अद्भुत मधुर स्वर सुनाई पड़ते हैं, गायत्री-मन्त्र का जाप किया जाता है तो इसके शब्दों के मौन अथवा उपांशु उच्चारण से भी भीतर-ही-भीतर तरंगें उठने लगती हैं, जो इन मण्डलों पर एक अलौकिक वैज्ञानिक प्रभाव डालती हैं। यह इतनी सूक्ष्म क्रिया है कि इसे पूरे सावधान

तथा समाहित चित्तवाले साधक ही अनुभव कर सकते हैं। परन्तु यह अनुभव-सिद्ध है कि गायत्री-जप तथा तदनुकूल आचरण बनाने से साधक का हृदय कमल-सा खिलने लगता है। उसे जीवन में कुछ माधुर्य प्रतीत होने लग जाता है और जगत् के कार्य फिर अधिक घबराहट उत्पन्न नहीं करते।

यह कहना तो अत्युक्ति होगी कि सांसारिक कष्ट तथा चिन्ताएं आती नहीं। आती तो हैं। बड़े-बड़े योगियों, तपस्वी महानुभावों पर भी आपत्तियां आती हैं, परन्तु गायत्री-उपासक या साधक की बुद्धि तथा हृदय इस प्रकार का बनने लगता है कि आपत्ति आने पर भी शान्त रहता है। साधक तथा असाधक, भक्त तथा अभक्त में यही भेद है। महर्षि दयानन्द ने—

"वृत्तिसारूप्यमितरत्र" ॥ योग० १ । ४ ॥

सूत्र की व्याख्या करते हुए 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' में लिखा है—

"उपासक योगी और संसारी मनुष्य जब व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं, तब योगी की वृत्ति तो सदा हर्ष-शोक-रहित, आनन्द से प्रकाशित होकर उत्साह और आनन्दयुक्त रहती है, और संसार के मनुष्य की वृत्ति सदा हर्ष-शोकरूप दुःख-संसार में ही डूबी रहती है।"

और गायत्री-जप ऐसी वृत्ति बनाने में बड़ा सहायक बनता है। चौबीस अक्षरों से गायत्री के जो शब्द बने हैं उनके उच्चारण में ऐसी तरंगें उठती हैं जो शरीर के मर्मस्थलों पर दिव्य प्रभाव डालती हैं। विशेष रूप से बुद्धि और हृदय पर जब निरन्तर प्रतिदिन यह क्रिया जारी रहती है तो बुद्धि का मोटापन दूर होने लगता है और वह तीक्ष्ण बनने लगती है। मनोविज्ञान के पण्डितों ने भी अब यह स्वीकार कर लिया है कि एक ही प्रकार के शब्द तथा विचार के बार-बार दुहराने, जप करने से मन पर स्थायी प्रभाव पड़ता है और वह बार-बार दुहराया विचार उसके जीवन में ओतप्रोत होने लगता है, जिससे हृदय तथा बुद्धि, दोनों की मलिनता परे हटाने में पूरी सहायता मिलती है।

बुद्धि की मलिनता दूर होने पर धन कमाने, सांसारिक वैभव प्राप्त करने और दूसरों से व्यवहार करने की कुशलता प्राप्त हो जाती है, और निर्मल बुद्धि द्वारा ही आत्मदर्शन भी प्राप्त हो जाता है। गायत्री-मन्त्र में परमात्मा से एक ही याचना की गई है कि हमारी बुद्धि को प्रेरित कीजिये कि वह आपकी ही ओर झुके, शुभ तथा आध्यात्मिक रुचिवाली हो, आपका ही गुण-गान करनेवाली और आपके ही प्रेम-भक्ति के रंग में रँग जाये।

संसार में बुद्धि ही सर्वप्रधान है; मनुष्य पर मनुष्य की विशेषता बुद्धि ही के कारण होती है। तुलसीदास जी ने ठीक कहा है—

जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना।
जहाँ कुमति तहँ विपति निदाना॥

और 'महाभारत' में जहाँ यह प्रसंग आता है कि देवता किस प्रकार साधक की रक्षा करते हैं और किस प्रकार कुकर्मी को दण्ड देते हैं वहाँ यह भी बतलाया है—

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या तु विभजन्ति तम्॥
यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम्।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति॥

उद्योग पर्व ३४। ८०, ८१॥

—देवता दंड लेकर पशु-रक्षक की भाँति पुरुष की रक्षा नहीं करते। वे जिसकी रक्षा करना चाहते हैं उसे बुद्धि दे देते हैं, और जिसे असफल बनाना चाहते हैं उसकी बुद्धि पहले छीन लेते हैं।

'गीता' में भी तो यही कहा है—

"बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।" गी० २। ६३॥

—बुद्धि के नाश होने से सर्वनाश हो जाता है।

चाणक्य ऋषि ने यह कहते हुए कि शेष चाहे सब-कुछ चला जाए परन्तु—

"बुद्धिस्तु मा गान्मम।"

—मेरी बुद्धि न जाये—ऐसी याचना की थी। और फिर जिसके पास दिव्य बुद्धि है, उसके तो लोक-परलोक दोनों सुधर जाते हैं। वह वेदानुसार (अभिष्टये) मनोवांछित आनन्द तथा (पीतये) पूर्ण परमानन्द को प्राप्त कर लेता है।

यहाँ एक शंका का समाधान आवश्यक है कि अमरीका, यूरोप आदि में तो कोई गायत्री-जप तथा तदनुकूल आचरण नहीं करता, क्या वहाँ बुद्धि नहीं है?

बुद्धि तो है, परन्तु सुबुद्धि, दिव्य बुद्धि, सात्त्विकी बुद्धि नहीं है। यदि सुबुद्धि होती तो इतने वैभवशाली देश में होने पर भी वे दुःखी न होते; और सात्त्विक बुद्धि वही है जो प्रभुभक्ति के रंग में रँगी जा चुकी है। ऐसी सुबुद्धिवाला मनुष्य कोई ऐसा कर्म नहीं करता जिससे जनता दुःखी हो उठे। भगवान् कृष्ण इसके सम्बन्ध में यह कहते हैं—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥
गीता २। ६६॥

—साधन-रहित पुरुष के अन्तःकरण में श्रेष्ठ बुद्धि नहीं होती है और अयुक्त (प्रभु से विमुख) के अन्तःकरण में आस्तिक भाव भी नहीं होता है, और विना आस्तिक-भाववाले पुरुष को शान्ति भी नहीं होती। फिर शान्ति-रहित पुरुष को सुख कैसे हो सकता है?

गायत्री-मन्त्र द्वारा जो बुद्धि मिलती है वह श्रेष्ठ बुद्धि है और आस्तिकता से सनी होने के कारण ठीक पथ-प्रदर्शन करती है। तब साधक के लोक-परलोक दोनों सुधर जाते हैं।

वेद में गायत्री-उपासना—

गायत्री-मन्त्र का वर्णन चारों वेदों में है। अथर्ववेद में तो यह बतलाया है कि वेदमाता गायत्री के द्वारा उपासना करने से आयु, स्वास्थ्य, सन्तान, पशु, धन, सम्पत्ति, यश, ब्रह्म-तेज, ये सब पदार्थ मिलते हैं और प्रभु-दर्शन भी। यजुर्वेद[1] में तीन बार गायत्री-मन्त्र

१. यजु० ३।३५।३०; २।३६।३; ऋक् ३।६२।१०; साम० १३।३।३ उत्त०

आया है। इसी प्रकार ऋक् तथा साम वेदों में भी यह मन्त्र आया है।

अथर्ववेद, काण्ड १६, सूक्त ७१वें का पहला ही मन्त्र यह है—

ओम् स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्ति द्रवणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥

इस मन्त्र की देवता गायत्री है, अर्थात् इस मन्त्र में यह बतलाया है कि गायत्री-मन्त्र द्वारा साधना करने से उपासक को क्या मिलता है। जिस मन्त्र का जो देवता हो, वही उस मन्त्र का विषय होता है। इस मन्त्र का अर्थ यह है—

द्विजानां पावमानी—द्विजों को पवित्र करनेवाली।
वरदा—वर देनेवाली, शुभ कामना पूर्ण करनेवाली।
प्रचोदयन्ताम्—उसका विस्तार-प्रचार करो।

वेदमाता मया स्तुता	गायत्री माता की स्तुति की अथवा गायत्री द्वारा उपासना की है।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्ति द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्	आयु, स्वास्थ्य, प्रजा-सन्तान, पशु, यश, धन, और ब्रह्मतेज।

मह्यं दत्त्वा—मुझे देकर
ब्रह्मलोकं व्रजत—ब्रह्मलोक को चले जाओ।

सांसारिक लोगों के लिए जो भी उपयोगी पदार्थ हैं, सबका वर्णन इस मन्त्र में आ गया है। इन्हीं सात पदार्थों—(१) आयु, (२) स्वास्थ्य, (३) सन्तान, (४) पशु, (५) यश, (६) धन-सम्पत्ति, राज्य-वैभव, (७) ब्रह्मतेज ही में सारे संसार के कमनीय पदार्थ आ जाते हैं। परन्तु गायत्री माता द्वारा स्तुति, प्रार्थना, उपासना करने से केवल लौकिक वैभव ही नहीं मिलता, अपितु शान्ति तथा आनन्द का परमधाम भी मिलता है, क्योंकि गायत्री-मन्त्र द्वारा उपासक को सात्त्विक बुद्धि, यथार्थ ज्ञान मिल जाता है। सुबुद्धि मिलने से लोकव्यवहार भी सुधरता है और परलोक का भी लाभ होता है।

बुद्धि के लिए प्रेरणा का स्रोत—

जब प्रकृति सो रही थी, उसमें किसी प्रकार की गति नहीं थी, तब परमात्मा ने अपनी सविता-शक्ति द्वारा प्रकृति को प्रेरणा की कि वह गति में आए। तब प्रकृति में जो पहला परिणाम हुआ, वह समष्टि बुद्धि या महत्तत्त्व था। उसी महत्तत्त्व ने प्रभु-प्रेरणा से अहंकार, पंच तन्मात्रा, पंचभूत मन तथा अन्य इन्द्रियों और नाना सौर-मण्डलों का रूप क्रमशः धारण कर लिया। परमात्मा की एक नन्ही-सी सविता-शक्ति द्वारा संसार रच दिया गया है। परमात्मा की वह सविता-शक्ति केवल आदि सृष्टि ही में कार्य नहीं करती, वह अब भी कार्य कर रही है, और जो भी मनुष्य श्रद्धा, भक्ति और विश्वास तथा अभ्यास से उस सविता से प्रेरणा लेना चाहे, अब भी ले सकता है। परमात्मा प्रतिक्षण उस उपासक का पथ-प्रदर्शन करते हैं जो ऐसी इच्छा प्रकट करता है; और गायत्री-मन्त्र में उसी प्रभु-प्रेरणा के लिए याचना की गई है। जब परमात्मा प्रकृति को प्रेरणा करके इतना बड़ा विशाल संसार सामने खड़ा कर देता है, तो क्या वह उपासक के बार-बार निवेदन करने पर भी उसकी बुद्धि को शुभ प्रेरणा न देंगे? अवश्य देंगे। प्रभु तो भक्त-वत्सल भगवान् हैं, करुणामय कन्त हैं और दयामय स्वामी हैं। हाँ, भक्त दृढ़ता से प्रभु की शरण में ही रहे। बुद्धि को सुप्रेरणा देनेवाला दयालु परमात्मा ही है, जिसका वर्णन सावित्री-गायत्री में आता है। इस मन्त्र में परमात्मा को सविता देव कहा गया है, क्योंकि वह ऐसी सुप्रेरणा देनेवाला है, जिससे आनन्द प्राप्त होता है।

जप की दूसरी विधि—

गायत्री-मन्त्र का जप संख्या अथवा समय के आधार पर भी किया जा सकता है। इन दोनों के अतिरिक्त एक और प्रकार से भी किया जा सकता है। वह प्रकार यह है—

ओम् का उच्चारण ऊँचे स्वर में कीजिये। जब स्वर समाप्ति पर हो तो ओम् अक्षर को हृदय में टिका दीजिये और उसी के ध्यान में मग्न हो जाइये। कुछ काल इसी अवस्था में रहकर फिर ओ३म् का

दीर्घ स्वर से उच्चारण कीजिये और स्वर के अन्त में फिर ओम् अक्षर को हृदय में टिकाकर मग्न होने का यत्न कीजिये। जैसे नदी में स्नान करते समय मनुष्य जल में डुबकी लगाकर थोड़ा समय जल के भीतर ही रुका रहता है, उसी प्रकार अपनी आत्मा को परमात्मा के बीच में मग्न कर देना चाहिए, और जितनी देर रह सके, रहकर फिर डुबकी लगानेवाले की तरह बाहर आने का अनुभव करना चाहिए। जब यह अभ्यास बढ़ेगा तो डुबकी का समय निरन्तर बढ़ता चला जाएगा। इस ओम् ही के उच्चारण में कितना ही समय व्यतीत हो जाएगा।

भूः शब्द आते यह अनुभव करना होगा कि समष्टि प्राण के साथ मेरे प्राण का सम्बन्ध हो रहा है, और समष्टि प्राण द्वारा मुझे नव-जीवन मिल रहा है। भूः शब्द के उच्चारण-समय यह संकल्प करना चाहिए कि सारे विकार, सारे मल, सारे विक्षेप मेरे अन्दर से बाहर निकलते चले जा रहे हैं, मैं निष्पाप हो रहा हूँ, मेरे सारे दुःख दूर हो रहे हैं।

भुवः शब्द कहते समय ऐसा विचार करना चाहिए कि सुख-स्वरूप परमात्मा ने मेरे ऊपर सुखों की वृष्टि प्रारम्भ कर दी है; चारों ओर से सुख-ही-सुख आते जा रहे हैं। मैं सुखदाता के द्वार से सुख की झोलियाँ भर लाया हूँ।

इससे आगे गायत्री-मन्त्र के एक-एक शब्द पर विचार कीजिये।

सविता शब्द के आते ही यह अनुभव करना होगा कि एक ज्योतिर्मय शक्ति मुझे प्रेरणा कर रही है और मुझे निर्मल बनाती चली जा रही है। उस सविता ने मुझे अपनी गोद में ले लिया है और मैंने भी 'वरेण्यम्'=अपने-आपको उस माता के अर्पण कर दिया है। आत्म-समर्पण करते ही उस सविता देव के भर्ग को मैं दिव्य नेत्रों से देखने लगा हूँ। जो अति श्रेष्ठ है, उस तेज द्वारा मेरी बुद्धि की मलिनता दूर होती चली जा रही है, और मुझे एक अद्भुत आनन्द तथा स्वाद आ रहा है। अब मेरी बुद्धि इतनी निर्मल तो हो गई है कि उस सच्चे गुरु परमात्मा के निकट पहुँच सकूँ, अतएव अब मैं भगवान् से याचना

करता हूँ कि हमारी बुद्धि को—कर्म को—वचन को अपनी ओर ले चलो—और आहा ! यह कितनी प्रसन्नता है कि हमारी बुद्धि प्रभु ही की ओर चल पड़ी है और उसी में स्थिर हो गई है। यह सारी क्रिया एक घण्टे से अधिक समय में होती है और जब सत्त्वगुण अधिक प्रधान हो तो दो घण्टे बीत जाने पर भी कुछ पता नहीं रहता और एक दिव्य एकाग्रता प्राप्त होने लगती है।

जप की तीसरी विधि—

गायत्री-मन्त्र के संक्षिप्त अर्थ हृदयङ्गम करके तन्मय होकर गायत्री-जप शुरू कीजिये। जप हृदय ही में होना चाहिए। एक घण्टा जप करने के पश्चात् जप छोड़कर तत्काल ध्यान भृकुटि में ले-जाकर, वहाँ शिखावत् ज्योति देखने का यत्न कीजिये। धारणा कीजिये कि भृकुटि में ज्योति है और विश्वास रखिये कि वहाँ निस्सन्देह ज्योति है। ऐसी दृढ़ धारणा करते-करते एक दिन ज्योति प्रकट हो जाएगी। इसी प्रकार निरन्तर अभ्यास जारी रखिये।

भक्ति के तीन अंग—

स्तुति, प्रार्थना, उपासना—ये भक्ति के तीन अंग हैं। गायत्री-मन्त्र में ये तीनों ही अंग विद्यमान हैं—

'ओम् भूर्भुवः स्वः'—अर्थात् हे रक्षक, सारी सृष्टि के प्राणाधार, दुःखनाशक, सुखस्वरूप या सत्-चित्-आनन्द परमात्मा ! 'तत्सवितुर्-वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि'—आप सारे संसार के निर्माण करनेवाले हैं; सारे प्राणियों के माता-पिता हैं; हर प्रकार का प्रकाश देनेवाले हैं; आप ही वरने योग्य हैं; उपासना करने योग्य हैं; आपके सर्वश्रेष्ठ पापों के दग्ध करनेवाले, आनन्द देनेवाले तेज का हम ध्यान करते हैं। 'धियो यो नः प्रचोदयात्'—हमारी बुद्धि, कर्म को शुभ प्रेरणा करके अपनी ओर ले चलो। यहाँ स्तुति-प्रार्थना-उपासना तीनों आ गये।

भक्ति का भाव है—सेवा। सेवक वही सच्चा होगा जो अपने स्वामी की आज्ञानुसार कार्य करे और स्वामी की आज्ञापालन में दुःख आए या सुख, उसी में प्रसन्न रहकर तदनुकूल आचरण करे।

महर्षि दयानन्द से जब पूछा गया कि स्तुति-प्रार्थना-उपासना किसलिए करनी चाहिए तो इसका उत्तर उन्होंने 'सत्यार्थप्रकाश' में दिया कि स्तुति से ईश्वर में प्रीति, उसके गुण-कर्म-स्वभाव से अपने गुण-कर्म-स्वभाव का सुधार, प्रार्थना से निरभिमानता, उत्साह और सहायता, उपासना से मेल और प्रभु का साक्षात्कार होना है।

प्रेमी अपने प्रियतम के गुण-कीर्तन करता ऊबता नहीं। उसका जी चाहता है कि प्यारे के गीत गाता रहूँ। परन्तु वह कोरे गीत ही नहीं गाता, प्रभु के जिस-जिस गुण का गान करता है, वह चाहता है कि वे गुण उसके अन्दर भी आ जाएँ। प्रभु-दर्शनार्थ यह आवश्यक है कि उपासक के जीवन में परमात्मा के कुछ गुण झलकने लगें। परमात्मा ज्ञानवान् तथा सारे ज्ञानों और दिव्य बुद्धियों का भण्डार है। उपासक के अन्दर कुछ तो ज्ञान-बुद्धि हो। परमात्मा स्थिर है। उपासक का चित्त-बुद्धि स्थिर होनेवाली हो। 'सामवेद' के नवम मन्त्र में बड़ी रहस्य की बात गाई गई है—

त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत। मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः॥

—हे प्रभो ! आपको (अथर्वा) निश्चल चित्तवृत्तिवाला पुरुष (पुष्करात् अधि) इस हृदय-देश में (निरमन्थत) अवगाहन कर जान पाता है। और प्रभु के ज्ञान का मन्थन (मूर्ध्नः) मस्तिष्क-बुद्धि से होगा जो सारे ब्रह्माण्ड के ज्ञान को धारण करता है; अर्थात् प्रभु का दर्शन निरुद्ध चित्तवृत्तिवाले तथा ज्ञान के भण्डार से जुड़ी हुई बुद्धिवाले को ही होगा। इसलिए यह अनिवार्य है कि प्रभु के अनेक गुणों में से कुछ गुण उपासक अपने जीवन में ले आये। यदि केवल गुण-कीर्तन में ही प्रेमी लगा रहेगा और प्यारे के गुणों में से थोड़ा-सा अंश भी अपने अन्दर नहीं लाएगा तो वह कोरा भाट बना रह जाएगा; आगे बढ़कर प्रभु से मिलाप न कर पाएगा। जब प्रेमी साधक के जीवन में परमात्मा के अनेक गुणों में से कुछ भी गुण आने लगेंगे, तब साधक बड़े आशा-भरे हृदय से प्रार्थना भी करेगा, और यदि यत्न करने पर भी अन्तःकरण के दोष—मल-विक्षेप-आवरण दूर न हो सके तो अप

असमर्थता प्रकट करके रुदन करता हुआ प्रभु से निवेदन करेगा कि हे परम वैद्य ! अब अपने में शक्ति रही नहीं । तेरी सहायता, दया और करुणा बिना कार्य-सिद्धि होती दिखाई नहीं देती । करो कृपा ! मैं तो हृदय का मैला वस्त्र धोते-धोते थक गया और अच्छे धोबी ! अब तू ही इसे धो दे । मैं तो अपना फटा मन सीते-सीते हार गया । ओ निपुण दर्जी ! अब तू ही इस फटे वस्त्र को सीने की दया कर !

दर पर तेरे आन खड़े हैं, बने सवाली नाथ !

तुझ बिन अपना और न कोई, लाज तिहारे हाथ !!

ऐसी प्रार्थना के पश्चात् हृदय अधिक नम्र हो जाता है । उसमें प्रभु-कृपा का अमृत-जल भर जाता है और प्रियतम से मिलाप होने का मार्ग दृष्टिगोचर होने लगता है ; निर्मल मन की वृत्तियाँ एकाग्र होने लगती हैं और उसकी दिव्य ज्योति के दर्शन दिव्य नेत्रों से होने लगते हैं । चूंकि गायत्री-मन्त्र में भक्ति के ये तीनों अंग विद्यमान हैं इसलिए इस मन्त्र द्वारा प्रेमी और प्रियतम का मिलाप शीघ्र होता है ।

भक्ति का महत्त्व प्रकट करने के लिए कहा भी गया है—

धर्मार्थकाममोक्षाणां ज्ञानवैराग्ययोरपि ।

अन्तःकरणशुद्धेश्च भक्तिः परमसाधनम् ।।

—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ज्ञान, वैराग्य तथा अन्तःकरण की शुद्धि का श्रेष्ठ साधन भक्ति ही है ।

और गायत्री-मन्त्र इसी भक्ति का आस्वादन देनेवाला दिव्य मन्त्र है ।

ईश्वर-प्रणिधान—

गायत्री-मन्त्र 'ईश्वर-प्रणिधान' का मन्त्र है, जिसके अर्थ हैं—'भक्ति-विशेष' अर्थात् सारे कर्मों तथा संकल्पों को ईश्वरार्पण कर देना, केवल कर्मों ही को नहीं, उनके फलों को भी प्रभु की भेंट चढ़ा देना । जब गायत्री-मन्त्र द्वारा उपासना करनेवाले उपासकों ने 'वरेण्यम्' कहकर परमात्मा को वर लिया और अपनी (आत्मा की) बलि प्यारे पर चढ़ा दी तो फिर उपासक शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण, अन्तःकरण

आदि सब बाह्य तथा आभ्यन्तर कारणों, उनसे होनेवाले सारे कर्मों तथा उनके फलों को अर्थात् अन्दर-बाहर के सारे जीवन को प्रभु के समर्पण कर देगा । ईश्वर-प्रणिधान परमात्मा की कृपा प्राप्त करने का अमोघ साधन है । 'योगदर्शन' में कहा भी है—

"समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ।" २ । ४५ ॥

समाधि की सिद्धि ईश्वर-प्रणिधान से होती है ।

जब अपने-आपको प्रभु के अर्पण कर दिया जाएगा और अपने कर्मों तथा उनके फलों में भी चित्त अटका नहीं रहेगा तो प्रभु-कृपा प्राप्त होने में जो विघ्न आते हैं, वे स्वयमेव दूर होने लगेंगे । 'साधक जो भी कर्म करने लगा है, यह ईश्वर की भेंट चढ़ना है' ; तब साधक देख लेगा कि यह कर्म उस निर्मल, पवित्रता के भण्डार प्रभु की सेवा में भेंट करने के योग्य भी है या नहीं । ऐसी भावना हो जाने पर साधक कोई कुकर्म कर ही नहीं सकेगा, और यदि कोई ऐसा अवसर आ गया कि प्रलोभन तथा फिसलावट में पैर फिसलने लगा, तब साधक अपने प्यारे को उसके निज नाम ओम्-ओम्-ओम् द्वारा पुकारेगा और जब यह पुकार हृदय से होगी और साथ ही परमात्मा के अनेक गुणों का विचार चित्त में आ गया तो साधक उस फिसलावट से बच निकलेगा । परमात्मा शुद्ध-स्वरूप है, क्लेशों से परे है, वह वासनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं रखता; कर्मों तथा फलों से अलिप्त है; उसे काल भी नहीं बाँधता । जैसे सूर्य अपनी रश्मियों को हर स्थान पर पहुँचाकर भी अलिप्त रहता है, वैसे प्रभु भी सबमें विराजमान होकर भी लिप्त नहीं होता । मुझे भी तो उसी विमल-निर्मल प्रभु के समीप पहुँचना है, उसी प्यारे को आलिंगन करना है, तब यह कुकर्म क्यों करूँ ?

नदी किनारे मैं खड़ी, पानी झिलमिल होय ।

मैं मैली पिया ऊजले, मेरा किस विधि मिलना होय ॥

ओम् मेरे रक्षक हैं; वे मेरी सहायता कर रहे हैं । अपनी विपुल शक्ति मुझे बचाने के लिए भेज रहे हैं । मैं इस फिसलावट में नहीं आ

सकता; अपने चित को मैला नहीं करूँगा और प्रभु-दर्शन पाने का पूरा अधिकारी बनूँगा। अब ओम्-ओम्-ओम् की ही रट लग जाएगी और निश्चितरूपेण एक दिव्य शक्ति साधक के चित्त में आती प्रतीत होगी। तब अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि क्लेश, सकाम कर्म, कर्मफल तथा वासनाओं के संस्कार, जो बन्धन के कारण हैं, चित्त से हटने लगेंगे। और जब चित्त में कोई भी अन्य विषय नहीं रहता तब केवल ईश्वर ही एक ध्येय रह जाता है। ईश्वर-प्रणिधान तथा 'वरेण्यम्' का भाव यही है कि जैसे पतिव्रता देवी के हृदय में अपने पति के अतिरिक्त अन्य पुरुष का ध्यान नहीं आता, और पत्नीव्रत पर आरूढ़ पुरुष के चित्त में अन्य देवी का ध्यान नहीं आता, उसी प्रकार साधक के चित्त में अपने दिव्य, अलौकिक प्रियतम के अतिरिक्त अन्य किसी का ध्यान न आए। चित्त को सबकी ओर से निवृत्त कर दो, निकाल दो मन-मन्दिर से एक-एक विचार को, कर दो खाली यह कमरा और इस सिंहासन पर केवल अपने प्रभु प्यारे की दिव्य तथा बृहज्ज्योति को देखो। और यह अवस्था गायत्री-मन्त्र द्वारा परमात्मा के दिव्य तेज पर निरन्तर ध्यान करने तथा अपने-आपको प्रभु-अर्पण करने से प्राप्त हो जाती है।

साधना में लगे रहो—

पता नहीं चित्त पर अनेक जन्म-जन्मान्तरों के कर्मों के कितने पर्त जम चुके हैं और फिर इस जन्म में भी पता नहीं चित्त में क्या-कुछ हो रहा है। अतएव गायत्री-मन्त्र तथा तदनुकूल जीवन बनाते हुए साधना में लगे रहो, उकताओ नहीं, ऊब न जाओ, लगे ही रहो। लगाते चलो जप द्वारा चोट, यह चित्त कभी-न-कभी तो निर्मल होगा ही; और जब चित्त चमका तब साधक पर यह भेद खुल जाएगा कि मैं तो चित्त नहीं हूँ, प्रकृति का कोई विकार भी नहीं हूँ; मैं तो शरीर भी नहीं; यह तो केवल मेरे भोग तथा अपवर्ग के लिए साधनमात्र है। मैं तो अमर आत्मा हूँ। मुझमें केवल आनन्द की कमी है, और आनन्द का स्वामी है मेरा प्यारा प्रभु; उसी की उपासना तथा कृपा से मेरी यह त्रुटि

दूर होगी, और जब आत्मा अपने-आपको चित्त से पृथक् देख स्व-स्वरूप में स्थित हो गया तो आनन्दस्वरूप परमात्मा तो वहीं विराजमान है। आत्मतत्त्व का ब्रह्मतत्त्व से मिलाप हो गया। आनन्द का प्यासा इस आनन्द-अमृत को पीकर तृप्त हो जाएगा।

जप कितना ?

जप कितना करना चाहिए? अपने सामर्थ्य, परिस्थिति तथा आवश्यकता के अनुसार। देख लीजिए, आप कितना समय इस पवित्र तप में लगा सकते हैं। हाँ, अनुभव ने बतलाया है कि जप द्वारा प्रत्याहार, धारणा तथा ध्यान तक साधक जा पहुँचता है, और जब ध्यान तक पहुँच हो गई हो तब थोड़े-से विशेष यत्न से समाधि-अवस्था भी प्राप्त की जा सकती है। अनुभव ने बतलाया है कि अष्टांगयोग में जिस प्रत्याहारी दशा का वर्णन है, वह एक ही आसन में छह घण्टे बैठे रहकर गायत्री-जप करने से प्राप्त होती है, और जब लम्बे काल तक छह-छह घण्टे प्रतिदिन एक ही आसन में निश्चलता से आरूढ़ रहकर गायत्री-जप होता रहता है, तब 'धारणा' की अवस्था आने लगती है और आसन भी सात घण्टे का हो जाता है। जब यह अभ्यास परिपक्व होता है और आसन नौ घण्टे का होता है तो गायत्री-जप करते-करते ध्यान-अवस्था प्राप्त होने लगती है। अर्थात्, यम-नियम पालन करते हुए गायत्री-जप द्वारा योग के इन अंगों पर अधिकार होने लगता है और साधक एक अद्भुत, दिव्य स्वाद तथा रस का अनुभव करने लगता है। यह जप कितना महत्त्वपूर्ण है! कितने ऊँचे शिखर पर पहुँचा देनेवाला है! परन्तु जप द्वारा यह आनन्द तभी प्राप्त होगा जब इस तथ्य को समक्ष रखा जाएगा—

मनःप्रहर्षणं शौचं मौनं मन्त्रार्थचिन्तनम्।
अव्यग्रत्वमनिर्वेदो जपसम्पत्तिहेतवः॥

—प्रसन्न मन, पवित्रता, मौन, मन्त्रार्थ-चिन्तन, चित्र की एकाग्रता और अखेद (चिन्ता से दूर), ये जप के हेतु हैं।

ओम् तत्सत्!

आरती

कृपा करो हे नाथ !

[श्री रणवीर जी की लिखी हुई वह आरती जो कि पूज्य स्वामी जी की कथा के अवसर पर गाई जाती रही और जो प्रतिदिन पूजा-पाठ और हवन के बाद गाई जा सकती है।]

विनय सुनो हे नाथ जी, दीनबन्धु भगवान्।
जो आए तुम्हरी शरण, उसका हो कल्याण ॥

तुम हो अभय दान के दाता। तुम हो भवसागर के त्राता ॥
तुम हो सन्तन-सुख, शुभ रूपा। रवि शशि सबके तुम हो भूपा ॥
रात-दिना ये सब-कुछ तुमसे। गर्मी सर्दी वर्षा तुमसे ॥
फूल यहाँ पर, वृक्ष वहाँ पर। तेरी महिमा कहाँ-कहाँ पर ॥
चन्दा में मुस्काने वाले! बादल में ओ गाने वाले!
सूरज में प्रकाश तुही है। जल-थल अग्निप्रकाश तुही है ॥
रूप तेरा है कण-कण अन्दर। सारा जग है तेरा मन्दर ॥

भीतर बाहर सब जगह, तेरा ही विस्तार।
नाम तेरा ही गूंजता, विश्वरूप करतार ॥१॥

नदियाँ तेरा गीत सुनातीं। 'पार न पाया' कहती जातीं ॥
घोर घटा जब नभ में आती। गरज-गरज तव नाम सुनाती ॥
लहरों के सौ हाथ उठाकर। 'तूही-तूही' कहता सागर ॥
भौंरा फूलों के कानों में। कहता नाम मधुर तानों में ॥
और ये आंधी और ववण्डर। करते फिरते हर हर हर हर ॥
उछल-उछलकर चलती ज्वाला। कर में लेकर भक्ति प्याला ॥
कहती—पी ले, प्रीतम प्यारे! जग है सारा तेरे सहारे ॥

जल थल पवन आकाश में, परम पुण्य सुखधाम।
गूँज रहा है हर जगह, छिन-छिन तेरा नाम ॥२॥

सागर उछलें बल से तेरे। सूरज चन्दा चाकर तेरे ॥
नदियों से तूफ़ान उठाता। गिरि-गह्वर में ज्वाल जलाता ॥
तेरे बल का पार न पाया। सारा जग है तेरी माया ॥
धनियों का धन तू ही तो है। बलियों का बल तू ही तो है ॥
निर्झर बनकर झर-झर करता। दानी बनकर झोली भरता ॥
शैशव में मुस्काता तू है। यौवन मस्त बनाता तू है ॥
फूलों, शूलों, धूलों में तू। वृक्षों, पत्तों, नदियों में तू ॥

जल थल और आकाश में, तेरा है प्रभु वास।
तू ही तो करुणानिधि, सर्व जगत् की आस ॥३॥

तुमको ही करुणाकर कहते। तुझे दया का सागर कहते ॥
तेरी करुणा अकथ कहानी। दया तेरी से जीये प्राणी ॥
तेरी दया से दीनदयाला। शीतल होती है अघ-ज्वाला ॥
सर्व जगत् में तव करुणाई। दया, कृपा, माया, प्रभुताई ॥
माँ की मधुमय ममता तू है। त्राता सारे जग में तू है ॥
दीनशरण तू दीनदयाला। करुण चरण तव परमकृपाला ॥
करुणा का तव लिये सहारा। पंगू पाते पार किनारा ॥

अशरण-शरण हे पुण्यचरण, दीनबन्धु भगवान्!
करुणा करके राखिये, दास आपनो जान ॥४॥

तुझ बिन अपना कौन सहारा? तुझ बिन भव को कौन सहारा?
मात, पिता, प्रिय बन्धू तू है। मीत हमारा केवल तू है ॥
रात-दिना हम तेरे सहारे। रात-दिना तू साथ हमारे ॥
छोड़ तुझे अब जग के नाथा! कहाँ झुकायें अपना माथा?
किसे सुनायें विपदा अपनी? किसे दिखायें पीड़ा अपनी?
तुझ बिन और नहीं जगनाथा! जिसे सुनायें अपनी गाथा ॥
सुनने वाला तू ही तो है। और हमारा जग में को है?

करुणानिधि करुणा करो, अपना किंकर जान।
मात-पिता सम राखियो, तेरी हैं सन्तान ॥५॥

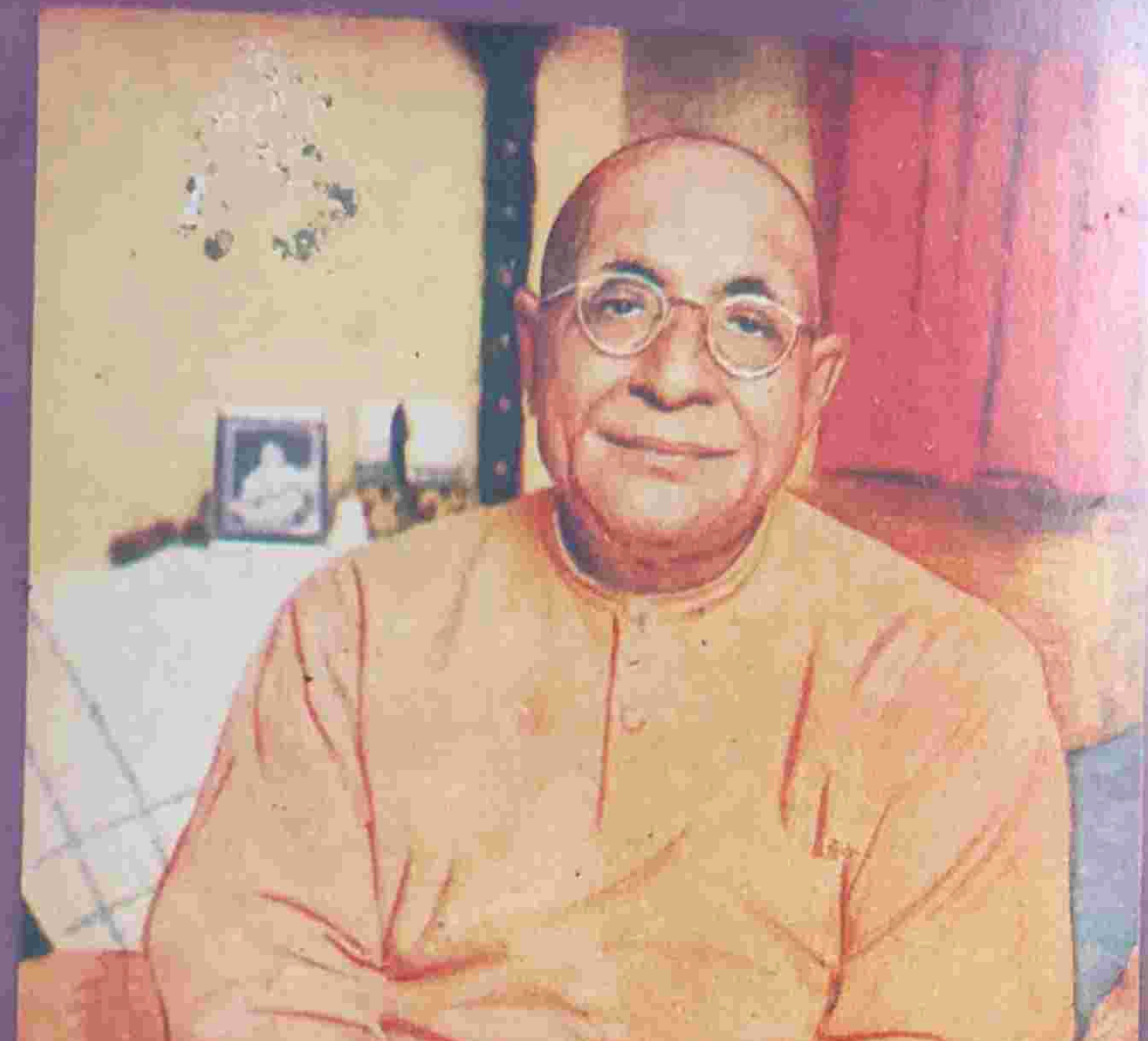
हमको दीजे प्रभु धन-धाना। यश-बल दीजै औ' सुख नाना ॥
देना हमको मान सुहाना। निज बल से बलवान् बनाना ॥
रोग, शोक, भय, निर्धनताई। दूर रहे हमसे कठिनाई ॥
भरा-भरा यह घर हो सारा। गूंजे इसमें नाम तिहारा ॥
याचक दुखिया जो कोई आए। अपने मन की आशा पाए ॥
सुख की वर्षा नित हो यहाँ पर। न हो दुःख का नाम यहाँ पर ॥
रात-दिना हम बढ़ते जाएँ। धन, यश-कीरत, सुख, मुस्काएँ ॥

धनबल, यशबल, कीर्तिबल, भरे-भरे भण्डार।
तेरी करुणा से मिलें, हमको हे कर्तार ॥६॥

हमको अपनी राह चलाना। करुणामय निज रूप दिखाना ॥
गूंजे हरदम नाम तिहारा। रिक्त न हो यह कोष हमारा ॥
गीत तेरे हों मन में अपने। तेरे ही बस देखें सपने ॥
राह तेरी से हट ना जायें। चाहे कष्ट हज़ारों आयें ॥
जग के धन्धे पूरे करके। पहुँचें पास तेरे भव तरके ॥
अन्त समय जब आय हमारा। अधरों पर हो नाम तिहारा ॥
जब यह टूटे प्रभु, जग-माया। तेरे चरण की पायें छाया ॥

सुखद चरण तेरे प्रभो! मेरा नत यह माथ।
शरण पड़े की लाज को, राखो दीनानाथ ॥७॥

□□



महात्मा आनन्द स्वामी सरस्वती